भारतीय ग्रन्थमाला—संख्या २६

देशी राज्य शासन

लेखक

भारतीय शासन, कौटिल्य की शासनपद्धति
आदि पुस्तकों के

रचयिता

भगवानदास केला

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद

दूसरा संस्करण
१००० प्रतियाँ

अक्टूबर, सन् १९४७

मूल्य,
साढ़े तीन रुपया

प्रकाशक :—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक,
भारतीय ग्रन्थमाला,
दारागंज, इलाहाबाद

मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी बी. काम.
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिंग्स, प्रयाग।

निवेदन

लगातार बहुत से वर्षों की मेहनत और बड़ी-बड़ी कुर्बानियों के बाद १५ अगस्त १९४७ का दिन आया है, जिसे कि कुछ अंश में भारतवर्ष का स्वाधीनता-दिवस कहा जा सकता है। असल में इस दिन हमें आजादी नहीं मिली है, सिर्फ हमारी आजादी का रास्ता साफ हुआ है। १५ अगस्त ने हमें खंडित भारत ही दिया है; हाँ, इस बात की सम्भावनाएँ है कि यदि हम उचित ढग से और होशियारी से काम करें तो हमारा अखंड और स्वाधीन भारतवर्ष का लक्ष्य भी पूरा होकर रहेगा। हमें जैसे एक ओर पाकिस्तान की समस्या को हल करना है, दूसरी ओर लगभग छः सौ की संख्या वाले, और जगह-जगह बिखरे हुए देशी राज्यों को, उनकी नौ करोड़ जनता को, स्वाधीन करना है। यह स्पष्ट है कि जब तक हमारी रियासतें अपने शासकों की निरंकुशता या एक-तंत्री हकूमत से मुक्त नहीं होतीं, भारतवर्ष को आजाद समझना ठीक नहीं है। इस लिए हमारा कर्तव्य है कि अपने रियासती भाइयों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर उन्हें आजाद करने में भरसक भाग लें। इस दिशा में एक खास काम यथेष्ट साहित्य तैयार करते रहना है।

अब देशी राज्यों की पुरानी गाथाओं से संतुष्ट न रहा जाय। किसी नरेश के चन्द्रवंशी या सूर्यवन्शी आदि होने से उसके वर्तमान दोषों को ढकने का काम लेना वंशाभिमान का दुरुपयोग करना है। यदि प्राचीन या प्रतिष्ठित कुल का अभिमान करनेवाले व्यक्ति अपने उत्तर-दाइत्व को नहीं समझते तो यह और भी अधिक दुःख और शोक का विषय है। इसी तरह यदि किसी राज्य में अच्छे सुन्दर वैभवशाली राजभवन, हवाई महल या अन्य इमारतें तथा बाग-बगीचे हैं; हाथी,

मोटर, घोड़े, बग्गी, पालकी आदि साजोसामान है, गैस और बिजली की रोशनी है तो उससे भी हमारी दृष्टि कलुषित न होनी चाहिए। हमारे सामने विचार यह रहना चाहिए कि राज्य का अर्थ है, जनता का राजनीतिक संगठन—वह संगठन जिसमें शासक एक आवश्यक अंग तो है, पर वह एक अंग मात्र ही है। राज्य में दिखलाई देनेवाले वैभव के सम्बन्ध में हमें सोचना चाहिए कि उससे जनता का क्या हित साधन होता है। यदि कोई शासक राजमहल में ऐवश्र्य का उपभोग कर रहा है, और जनता भूख-प्यास से व्याकुल है, और अपनी वाणी या लेखनी का उपयोग करने से भी वंचित है तो यह बात शासक और शासित दोनों के लिए शोचनीय है।

निदान, देशी राज्यों के सम्बन्ध में विशेष आवश्यकता ऐसे साहित्य की है, जिससे पाठकों को मालूम हो कि रियासतों की राजनीतिक समस्याएँ क्या है, इनकी शासनपद्धति कैसी है, उसमें क्या दोष हैं, जिन्हें दूर करने पर उसे उत्तरदाई शासन कहा जा सकेगा, और देशी राज्य भारतीय संघ की सुयोग्य इकाई बनकर देश की उन्नति और समृद्धि में यथेष्ट भाग ले सकेंगे।

हमने इस पुस्तक को पहली बार सन् १६२६ में लिखना आरम्भ किया था, पर कुछ सामग्री मिलनेकी इन्तजारी में, तथा हमारे दूसरे कामों में लग जाने के कारण काम बीच में रुक गया और यह तेरह वर्ष बाद प्रकाशित हो सकी। वह अगस्त १६४२ के आन्दोलन का समय था। अधिकांश रियासती नेता नजरबन्द हो गए थे, या जेल-जीवन बिता रहे थे। हमारे कुछ मित्रो ने वहाँ ही इस पुस्तक का स्वागत किया। अस्तु, जो कार्यकर्ता बाहर थे, उन्होंने अपनेअपने क्षेत्र में इसका प्रचार करना अपना कर्तव्य समझा। इधर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ने इस पुस्तक को मध्यमा (विशारद) और उत्तमा (रत्न) परीक्षा के पाठ्यक्रम में रखा। इस प्रकार हमारे विशेष प्रयत्न किए बिना ही पुस्तक योग्य

पाठकों के हाथों में पहुँचती रही।

इस पुस्तक का पहला संस्करण सन् १९४६ के आरम्भ में ही समाप्त हो गया था, और हमने भी उसी वर्ष इसका संशोधन करके दूसरा संस्करण छपाने का विचार कर लिया था। पर कागज के संकट के कारण वह विचार पार न पड़ा। यह भी सोचा गया कि इसका पहला भाग ही प्रकाशित कर दिया जाय, पर वह भी न हो सका। सन् १९४६ के अन्त में विधान-सभा का काम शुरू हो जाने के बाद देशी राज्यों के सम्बन्ध में विचार करते-करते एक नयी पुस्तक लिखी गयी—'भारतीय संघ और देशी राज्य'। परन्तु जब कि 'देशी राज्य शासन' के ही छपाने की व्यवस्था नहीं हो रही थी, नयी पुस्तक छपाने की बात ही क्या थी! फिर, इस नयी पुस्तक में जिन विषयों का विचार किया गया था उनमें से कुछ का अन्तिम स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया था। इस लिए यह सोचा गया कि उसकी जो बातें विशेष उपयोगी हैं, उन्हें 'देशी राज्य शासन' के पहले भाग में मिला दिया जाय। दूसरे भाग को तो स्थागित ही कर दिया गया था। हाँ, यह विचार मन में रहा कि उसमें से नमूने के तौर पर कुछ राज्यों की शासनपद्धति का परिचय दिया जा सके तो अच्छा है।

आखिर, कागज की व्यवस्था हो जाने पर पुस्तक के दोनों भाग छपाने का निश्चय किया गया। पर पुस्तक की कीमत न बढ़े इस विचार से इसका आकार परिमित ही रखना था। इसलिए इसके पृष्ठों में अधिक से अधिक पाठ्य सामग्री देने के अलावा, यह भी सोचा गया कि खासकर इसके दूसरे भाग के विषय को कहां तक और किस प्रकार संक्षिप्त किया जाय। क्यों कि 'देशी राज्यों की जनजागृति' एक अलग पुस्तक लिखली गयी है, इस लिए इस पुस्तक से उस विषय को सहज ही निकाला जा सका। फिर भी कुछ बातों को संक्षिप्त करना था। इसके लिए कितने ही पृष्ठों को दुबारा लिखना पड़ा। इस काम में बहुत

हुई। सन्तोष यही था कि आखिर पहले तैयार की हुई सामग्री का कुछ तो उपयोग हो जायगा।

सन् १९४७ देशी राज्यों की व्यवस्था में बड़े-बड़े परिर्तनों का समय रहा है। संयोग से पुस्तक छपने के समय (अगस्त में) बहुत से परिवर्तनों का निश्चित रूप सामने आ गया। पुस्तक में नयी से नयी बातों का समावेश हो सके, इसके लिए हमने भरसक प्रयत्न किया है। पाठकों को पुस्तक पढ़ने से मालूम हो जायगा कि इसमें अगस्त और सितम्बर १९४७ तक की नयी बातों का समावेश है।

इस पुस्तक में जिस सामग्री की सहायता ली गयी है, उसका उल्लेख यथास्थान किया गया है। श्रद्धेय श्री० विजयसिंह जी 'पथिक' ने इस पुस्तक के पहले संस्करण की प्रस्तावना लिखी थी, उसका आवश्यक अंश कृतज्ञता पूर्वक इस संस्करण में भी दिया जा रहा है। अपनी नयी पुस्तक 'देशी राज्यों की जनजागृति' के वास्ते उपयोगी सामग्री संग्रह करने के लिए हमने मई और जून १९४७ में देहली, जयपुर, जोधपुर और अजमेर की यात्रा की थी। इस यात्रा में 'देशी राज्य शासन' की संशोधित प्रति भी हमारे पास थी। देहली में मित्रवर श्री० जगदीशप्रसाद जी चतुर्वेदी बी० ए०, एल-एल० बी० से हमें इस रचना के संशोधन में अच्छी सहायता मिली। श्री० पूर्णचन्द जी जैन एम० ए० साहित्यरत्न सम्पादक साप्ताहिक 'लोक वाणी' और संयुक्त सम्पादक दैनिक 'लोक-वाणी' (जयपुर), श्री० अचलेश्वरप्रसाद शर्मा, सम्पादक 'प्रजासेवक' (जोधपुर), और श्री० रामनारायण जी चौधरी सम्पादक 'नया राजस्थान' (अजमेर) से भी कुछ विषयों पर विचार-विनिमय हुआ। रियासती विषयों के अच्छे साहित्यकार होने के कारण इन मित्रों की इस पुस्तक में स्वभावतः विशेष रुचि थी। हम इसे कहां तक उपयोगी बना सकें हैं, इसका निर्णय तो सुयोग्य पाठक करेंगे, हां, हम यह कह सकते हैं कि हमने अस्वस्थ होते हुए भी इसके लिए भरसक कोशिश की है।

मैं उन सज्जनों का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के पहले संस्करण को, उसमें कुछ अनिवार्य न्यूनताएँ होते हुए भी, खूब अपनाया और उसका अपने-अपने क्षेत्र भी निष्काम भाव से प्रचार किया। आशा है, इस संस्करण को भी ऐसे प्रेमी सज्जन काफी संख्या में मिलेंगे। इस ग्रन्थमाला को ऐसे महानुभावों का सहयोग बराबर मिलता रहा है, और आशा है, मिलता रहेगा।

विनीत

भगवानदास केला

'देशी राज्यों की जनजागृति' पुस्तक छपनी आरम्भ हो गयी है। इसकी विषय-सूची इस पुस्तक के अन्त में दी गयी है।

क्षमा याचना

हमारा स्वास्थ्य ठीक न होने से पुस्तक में कहीं-कहीं प्रूफ की अशुद्धि रह गयी है। उदाहरण के तौर पर पृष्ठ १११ में विधान-सभा के सदस्य ब्रिटिश भारत के २६३ और देशी राज्यों के ६१ छप गये हैं। असल में ये क्रमशः २६२ और ६३ होने चाहिएँ थे। [आगे के पृष्ठों में देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या ६३ बतायी ही गयी है।] आशा है, विचारशील पाठकों को प्रूफ की अशुद्धियों से कोई भ्रम न होगा, और वे हमारी विवशता का विचार करते हुए हमें क्षमा करेंगे।

—लेखक

समर्पण

देशी राज्यों की जनता के संकट दूर करने तथा उत्तरदाई शासन स्थापित करने के लिए अनेक महानुभावों ने समय-समय पर बड़े बड़े कष्ट सहे हैं, यहाँ तक कि वे जीते-जी शहीद हो गये हैं; उनमें से बहुत-सों के शुभ नाम यथेष्ट रूप से प्रकाश में नहीं आये हैं। उन ज्ञात और अज्ञात सभी सज्जनों को सादर बन्दना करके यह पुस्तक ऐसे सब पुरुषों और स्त्रियों, युवकों तथा वृद्धों को श्रद्धा सहित समर्पण की जाती है, जो रियासती जनता-जनार्दन की सेवा-पूजा में अपना सर्वस्व न्योछावर कर रहे हैं, जिनकी संख्या भारत-माता के सौभाग्य से उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, और जिनके त्याग और बलिदान के फल-स्वरूप देशी राज्यों का शासन निकट भविष्य में ही उत्तरदाई तथा जन हितकारी होनेवाला है।

विनीत

भगवानदास केला

प्रस्तावना

श्री० भाई भगवानदास जी केला राष्ट्रीय जागृति के उन मूक सेवकों में से हैं, जिन्हें सेवा की लगन होती है। यदि वे अवसरवादी और चतुर कहे जानेवाले लेखकों में से होते तो आज वे न केवल सुखमय जीवन बिताते होते, बल्कि देश के ख्यातनामा प्रकाशकों में भी उनकी गणना होती। किन्तु वे केवल लोगों की सेवा और ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से काम करनेवालों में से हैं। लोगों की, खासकर धनिकों और रईसों की गन्दी रुचियों को सन्तुष्ट कर साहित्य के गन्दे होने की परवाह न करके, अपना स्वार्थ सिद्ध करने की प्रवृत्ति उनके स्वभाव में ही नहीं है। यही कारण है कि वे आज भी वैसे ही 'सुदामा' बने हुए हैं, जैसे शायद इस उद्योग को शुरू करने के समय थे। साहित्य-सेवा करने में अद्वितीय होने पर भी आज उनकी गिनती साहित्य-मंदिर के पुजारियों में यथेष्ट रूप में नहीं की जाती। उनकी यह स्थिति ही हमारे साहित्य-प्रेम और हमारी अभिरुचियों पर इतनी कड़ी और स्पष्ट टिप्पणी है कि उस पर कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है।

भाई केला जी राष्ट्रीय जागृति के मूक सेवक होने के साथ-साथ राजस्थानी भी हैं; आप जैसलमेर के निवासी हैं। ऐसी दशा में स्वभावत: आपको इस बात का बड़ा खेद बना रहा कि वे राजस्थान के सम्बन्ध में कोई पुस्तक लिख और प्रकाशित नहीं कर पाये। देशी राज्यों के सम्बन्ध में हिन्दी में साहित्य है भी बहुत कम। अंगरेजी में कुछ पुस्तकें हैं, किन्तु प्रथम तो वे अधिक मूल्य की हैं, दूसरे सर्व-साधारण उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकते। हिन्दी में तो यह स्थिति है कि यदि कोई पाठक देशी राज्यों के नाम और आंकड़े जानना चाहे तो उसे इस आवश्यकता की पूर्ति करनेवाली कोई पुस्तक नहीं मिलेगी। फिर, राज्यों की पृथक् परिस्थिति, शासन-पद्धति और संस्थाओं के

आधुनिक इतिहास की तो बात ही क्या ! आज राजपूताना वाले दक्षिण के राज्यों की शासनपद्धति से सर्वथा अपरिचित हैं, और पंजाब वाले उड़ीसा या आसाम आदि के राज्यों और उनकी प्रजा के विषय में अन्धकार में हैं ।

श्री० केला जी ने एक ऐसी पुस्तक लिखने का उपक्रम किया, जिससे पाठकों को देशी राज्यों की राजनीतिक समस्याओं, शासनपद्धति और नागरिक स्थिति का आवश्यक ज्ञान हो जाय । उसी उद्योग का परिणाम यह रचना है । कागज की कमी और आर्थिक असुविधाओं के कारण, उनके लिए पुस्तक के कलेवर को यथा-साध्य छोटा रखने का प्रयत्न करना अनिवार्य था । फिर भी उन्होंने उपलब्ध सामग्री का अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया है, और पुस्तक को देशी राज्यों के निवासियों के लिए अधिक से अधिक उपयोगी बनाने की चेष्टा की है । इस सब से ऊपर, केला जी ने निस्पक्ष भाव का ध्यान रखा है । उन्होंने इस पुस्तक को न किसी विशेष विचार-धारा का साधन बनाया है और न किसी विशेष बात के विरोध करने का अस्त्र। उन्होंने यथा-तथ्य स्थिति का वर्णन अवश्य स्पष्टता से किया है । इस पुस्तक में भारतवर्ष के प्रत्येक भाग के देशी राज्यों की शासन-शैली और नये सुधार आदि के बारे में बहुमूल्य सामग्री भरी हुई है ।

मैं श्री० केला जी को इस पुस्तक के लिखने और इस कठिन समय में भी प्रकाशित करने के लिए बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि राजस्थानी और देशी राज्यों के प्रश्नों में रुचि रखनेवाले हिन्दी भाषा-भाषी इसे अपनाकर उन्हें इस दिशा में अपनी अन्य आकांक्षाएँ पूर्ण करने के लिए उत्साहित करेंगे ।

नवसंदेश कार्यालय
आगरा

विजयसिंह पथिक

विषय सूची

पहला भाग

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

दूसरा अध्याय

राज्य सम्बन्धी भारतीय आदर्श

तीसरा अध्याय

देशी राज्य और कम्पनी

चौथा अध्याय

सन १८५७ के बाद

पाँचवाँ अध्याय

वर्तमान रियासतें क्यों बनी रहीं ?

छठा अध्याय

देशी राज्यों का वर्गीकरण

सातवाँ अध्याय

संधियाँ

आठवाँ अध्याय

रियासती विभाग

नवाँ अध्याय

राजा

दसवाँ अध्याय

मंत्री और राजकर्मचारी

ग्यारहवाँ अध्याय

व्यवस्थापक सभाएँ

बारहवां अध्याय
न्यायालय

तेरहवाँ अध्याय
जागीर

चौदहवाँ अध्याय
नरेन्द्र मंडल

पन्द्रहवां अध्याय
कांग्रेस और देशी राज्य लोक परिषद्

सोलहवां अध्याय

नया विधान और देशी राज्य

सतरहवां अध्याय

शासन सम्बन्धी रियासती इकाइयाँ

अठारहवां अध्याय

रियासती इकाइयों का शासन

उन्नीसवां अध्याय

भारतीय प्रजातन्त्र में राजाओं का स्थान

———

दूसरा भाग

बीसवां अध्याय

इक्कीसवाँ अध्याय

कश्मीर

बाइसवां अध्याय

पंजाब के राज्य

तेइसवां अध्याय

पश्चिमोत्तर भारत के राज्य

चौबीसवां अध्याय

काठियावाड़ और गुजरात के राज्य

[भावनगर और बड़ौदा]

पचीसवां अध्याय

राजपूताने के राज्य

[बीकानेर, जोधपुर, मेवाड़, जयपुर और शाहपुर]

छब्बीसवां अध्याय

मध्यभारत के राज्य

[गवालियर, इन्दौर, भोपाल, रीवा]

सत्ताइसवाँ अध्याय

हैदराबाद

अध्याय अठाइसवां

बम्बई प्रान्त के राज्य

[औंध और सांगली]

उन्तीसवाँ अध्याय

दक्षिण के राज्य

[मैसूर, त्रावणकोर, कोचीन]

तीसवाँ अध्याय

अन्य देशी राज्य

इकत्तीसवाँ अध्याय

देशी राज्यों में नागरिक अधिकार

बत्तीसवाँ अध्याय

राजाओं का कर्तव्य

तेतीसवां अध्याय

देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं से

परिशिष्ट

देशी राज्य प्रश्नावली

———

पहला भाग

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

भौगोलिक तथा जातिगत दृष्टि से देशी राज्यों के तथा भारतवर्ष के अन्य भागों के निवासी एक और अविभाज्य हैं।

—म० गांधी

साधारण परिचय—भारतीय राजनीति का एक खास विषय देशी राज्यों या रियासतों की शासनपद्धति है। इन राज्यों का कुल क्षेत्रफल ७, १२, ५०८ वर्गमील और आबादी (१९४१ की गणना के अनुसार) ९,३१,८९,००० है। यह क्षेत्रफल भारतवर्ष के कुल क्षेत्रफल का लगभग ४० फीसदी, और यह आबादी कुल आबादी की करीब एक-चौथाई है। ये राज्य भारतवर्ष के किसी एक ही हिस्से में इकट्ठे न होकर जहां तहां बिखरे हुए हैं; उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और मध्य—सभी भागों में हैं।

इनकी संख्या समय-समय पर बदलती रही है। मांटफोर्ड रिपोर्ट (सन् १९१८) के समय तथा उससे पहले ये राज्य लगभग सात सौ थे। पीछे कुछ छोटे-छोटे रजवाड़े बड़े-बड़े राजाओं के अधीन किये गये। भारतीय राज्य जांच कमेटी (बटलर कमेटी) ने, जो १९२७ में नियुक्त हुई थी, अपनी रिपोर्ट में ५६२ राज्य होने की बात कही। सरकार द्वारा, १ जनवरी १९२९ तक ठीक करके प्रकाशित 'दि इंडियन स्टेट्स' पुस्तक में ५६० राज्यों का ब्योरा दिया गया। १९३५ में बर्मा अपने राज्यों सहित भारतवर्ष से अलग किया गया, तथापि सरकार के सन् १९४० ई० के

प्रकाशन❀ में देशी राज्यों का जो विवरण दिया गया, उसके हिसाब से उनकी संख्या ५८४ थी। इस वर्ष (१९४७) विधान सभा के लिए देशी राज्यों सम्बन्धी जो वक्तव्य‡, सरकारी तौर पर तैयार किया गया था, उसमें भी ५८४ देशी राज्यों का ही विवरण दिया गया है। बात यह है कि अधिकांश राज्य बहुत छोटे-छोटे हैं, इनमें से कुछ को दूसरों से मिला कर, या अलग करके सरकार ने समय-समय पर इनकी संख्या में कमी-बेशी की है।

क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से विविध राज्यों में बड़ा अन्तर है। श्री० शान्तिपवन जी ने सन् १९३९ में हिसाब लगा कर बताया था कि क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय के विचार से ५८४ देशी राज्यों का वर्गीकरण किस किस प्रकार होता है।† उनका दिया हुआ जनसंख्या और आय का ब्योरा तो अब बहुत बदल गया है, इसलिए यहाँ सिर्फ क्षेत्रफल के विचार से किया हुआ वर्गीकरण दिया जाता है—

५०,००० वर्ग मील से अधिक			...		...	३
२०,०००	,,	,, और ५०,००० वर्गमील से कम			...	४
१०,०००	,,	,,	२०,०००	,,	,,	७
१,०००	,,	,,	१०,०००	,,	,,	६९
१००	,,	,,	१,०००	,,	,,	१२१
१०	,,	,,	१००	,,	,,	१६८
१	,,	,,	१०	,,	,,	१६५
			१	,,	,,	१४
अज्ञात	...		..		...	२३

❀ Memoranda on the Indian States.

‡ Consolidated Statement on Indian States.

† 'व्हाट आर दि इन्डियन स्टेटस ?'

इस प्रकार कोई कोई राज्य अपने विस्तार में भारतवर्ष के एक-एक प्रान्त के बराबर है, कुछ रियासतें यहाँ के एक-एक जिले या तहसील के बराबर हैं, और बाकी सब तो मामूली कस्बे या गाँव जैसी या उन से भी गई-बीती हैं। ऐसे राज्य अंगुलियों पर गिने जाने योग्य ही हैं, जो अपने निजी साधनों के बल पर सुव्यवस्थित और लोकोपयोगी शासन चला सकें—ऐसे भी तो अनेक राज्य हैं जिनमें सौ-सौ आदमी भी नहीं रहते और जिनकी सालाना आमदनी सौ रुपये से भी कम है। ऐसे 'राज्य' और इनके 'राजा' अजीब दिल्लगी की चीज़ हैं।

'देशी राज्य' का अर्थ—देशी राज्यों सम्बन्धी अन्य बातों से पहले हम 'देशी' और 'राज्य' आदि शब्दों पर कुछ विचार करलें। अंगरेजी भाषा के 'नेटिव' शब्द की जगह हिन्दी में देशी शब्द का व्यवहार होता है। परन्तु अंगरेज प्रायः 'नेटिव' शब्द का प्रयोग अपमान-सूचक भाव से करते हैं। इसलिए यहाँ आन्दोलन होने पर उसकी जगह अक्सर 'इण्डियन' (भारतीय) लिखा जाने लगा। भारत-वर्ष के देशी राज्यों को अब 'नेटिव' स्टेट्स न कह कर 'इण्डियन' स्टेट्स कहा जाता है। हिन्दी में देशी शब्द 'भारतीय' या 'जो विदेशी न हो' अर्थ में पहले की तरह चला जा रहा है।

'राज्य' एक पारिभाषिक शब्द है, जो उस जनसमूह के लिए काम आता है, जिसका राजनीतिक संगठन हो, और जो अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र हो, किसी दूसरे के अधीन न हो। इस तरह राज्य के ये तत्व होते हैं—(१) जनता, (२) भूमि, (३) राजनीतिक संगठन और (४) प्रभुत्व शक्ति। इस बात का ध्यान रखते हुए भारतवर्ष के देशी राज्यों में से किसी एक को भी असल में 'राज्य' नहीं कहा जाना चाहिए, पर व्यवहार में इनके लिए अंगरेजी का 'स्टेट' शब्द काम आ रहा है, और हिन्दी में इन्हें राज्य कहे जाने में कोई आपत्ति नहीं मानी जाती।

सन् १९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार भारतीय या देशी राज्य ऐसे किसी भी प्रदेश को कह सकते है, जो ब्रिटिश भारत का भाग न हो, और जिसे सम्राट् (इंगलैंड के बादशाह) ने राज्य मान लिया हो, चाहे वह राज्य कहा गया हो, या रियासत या जागीर या और कुछ। इस प्रकार भारत के देशी राज्यों के सम्बन्ध में मुख्य लक्षण यही रह जाता है कि सम्राट् ने उन्हें राज्य माना है।

'चीफ़' और 'प्रिंस'—राजाओं के लिए प्रायः 'प्रिंस और 'चीफ' दो अंगरेजी शब्दों का उपयोग होता है, इनके बारे में भी कुछ विचार कर लेना उपयोगी होगा। 'चीफ़' का अर्थ है—सरदार या मुखिया। इस शब्द का प्रयोग अफरीका आदि के जंगली सरदारों के लिए भी होता है, इसलिए यह कम आदरसूचक हो गया है। बड़े राज़ाओं के लिए इसका उपयोग नहीं होता, छोटे राजाओं को ही चीफ़ कहा जाता है।

बड़े राजाओं को 'प्रिंस' कहा जाता है। प्रिंस का अर्थ है 'राजकुमार'। इस शब्द का उपयोग राजाओं के लिए होने से यह समस्या पैदा हुई कि राजाओं के पुत्रों को क्या कहा जाय! पहले महायुद्ध के बाद किसी-किसी युवराज के लिए प्रिंस शब्द का व्यवहार होने लगा, जैसे इन्दौर और हैदराबाद आदि के युवराज को प्रिंस कहा जाने लगा। तथापि किसी राजा के लिए 'प्रिंस' से अधिक आदर-सूचक शब्द 'किङ्ग' (बादशाह) का उपयोग नहीं किया जाता। इंगलैण्ड आदि स्वाधीन देशों के राजा किंग कहलाते हैं।

'दरबार'—'दरबार' का अर्थ है, राजसभा। पर राजपूताना आदि में इसका अर्थ राजा माना जाता है। मिसाल के तौर पर जोधपुर दरबार कहने से मतलब जोधपुर के राजा साहब से होता है। कुछ समय से दरबार का अर्थ सरकार भी हो गया है। पहले 'गवर्मेंट' (सरकार) शब्द ब्रिटिश भारत की प्रबन्धकारिणी संस्था के लिए उपयोग में आता था। अब हैदराबाद गवर्मेंट, ग्वालियर गवर्मेंट आदि

शब्दों का व्यवहार बढ़ता जाता है। यही नहीं, कुछ रियासतों में प्रधान मन्त्री को, इंगलैंड के प्रधान मंत्री की तरह 'प्राइम मिनिस्टर' भी कहने लगे हैं।

देशी राज्य भारतवर्ष के अभिन्न अंग हैं—देशी राज्यों के विषय में विचार करते हुए, हमें यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि ये भारतवर्ष के ऐसे हिस्से हैं कि इन्हें उससे किसी तरह अलग नहीं किया जा सकता। इस बात पर जोर देने की ज़रूरत इस लिए है कि नक्शे में इन्हें पीला, और ब्रिटिश भारत को लाल रंग का दिखा कर कुटनीतिज्ञ ब्रिटिश अधिकारियों ने सर्वसाधारण के मन में यह बात जमाने की कोशिश की है कि भारतवर्ष स्पष्ट रूप से दो भागों में बँटा हुआ है।

भारतवर्ष जैसे विशाल देश के विविध भागों में, ब्योरेवार बातों में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही है, किन्तु मुख्य-मुख्य और महत्वपूर्ण बातों के विचार से—संस्कृति, इतिहास, अर्थनीति, राजनीति और रक्त-सम्बन्ध आदि की दृष्टि से—भारतवर्ष एक और अखंड है। इसके नक्शे में लाल और पीले दिखाये जानेवाले भेद बनावटी हैं। इन दोनों भागों का चोली-दामन का साथ है। ये अलग-अलग न अपनी आर्थिक उन्नति कर सकते हैं, न विदेशियों से अपनी रक्षा कर सकते हैं। इन्हें राजनैतिक मामलों में भी एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखना आवश्यक है।

व्यापार की ही बात लीजिए। आजकल व्यापार-नीति ऐसी चल रही है कि कोई देश संसार से अलग रहने का दावा नहीं कर सकता; फिर, देशी राज्य और शेष भारत तो अलग-अलग देश भी नहीं हैं, ये तो एक ही देश के भिन्न-भिन्न बिखरे हुए भाग हैं, आपस में मिले हुए पड़ोसी हैं। ये दोनों भाग आपस में सहयोग करके अपने व्यापार की रक्षा कर सकते हैं, अपने आप को संसार की व्यापारिक शक्तियों

की लूट से बचा सकते हैं। अगर ये अलग-अलग रहें तो एक-दूसरे को हानि पहुँचावेंगे और साथ ही दोनों बाहरी शक्तियों की लूट के शिकार होंगे।

यही बात रक्षा के सम्बन्ध में है। देशी राज्य अपनी रक्षा का प्रबन्ध शेष भारत से अलग रहकर नहीं कर सकते। न यही आशा की जा सकती है कि इनमें से कोई एक भाग किसी बाहरी राज्य की सहायता से अपनी रक्षा करने में सफल हो सकेगा। पहले इन दोनों भागों का आपस में सहयोग होना चाहिए, फिर आवश्यकता हो, तो दूसरों की भी सहायता ली जाय। यदि इनका सहयोग न हो, और इनमें से प्रत्येक भाग दूसरे राष्ट्रों की सहायता का आसरा लेना चाहे तो वह बहुत खतरनाक होगा; खर्चीला होने के साथ इन्हें पराधीन बनाने वाला भी हो सकता है।

राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी प्रमुख विषयों में देशी राज्य और ब्रिटिश भारत का पहले से सहयोग रहा है। इन दोनों भागों के अधिकारी माल-गुज़ारी, आर्थिक व्यवस्था, यातायात, पुलिस और न्याय आदि के मामलों में एक-दूसरे की सहायता लेने के लिए बाध्य होते हैं। अन्त-र्राष्ट्रीय क्षेत्र में दोनों भागों के निवासियों की कठिनाइयाँ तथा असु-विधाएँ समान हैं, और उन्हें दूर करने में किसी अकेले के प्रयत्न को सफलता मिलने की सम्भावना बहुत कम होती है। इस लिए देशी राज्यों को शेष भारत की राजनीति और शासनपद्धति में संगठित होना आवश्यक है। उनकी यथेष्ट उन्नति और प्रगति बिना भारतवर्ष के समुचित उत्थान के नहीं हो सकता।

दूसरा अध्याय

राज्य सम्बन्धी भारतीय आदर्श

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

× × ×

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहिं व्यापा॥

—रामचरित मानस

भारतवर्ष के देशी राज्यों सम्बन्धी अन्य बातों का विचार करने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि राजा और राज्य के विषय में भारतीय आदर्श क्या रहा है; और यदि भविष्य में देशी राज्यों को रहना है तो उन्हें कैसा होना चाहिए।

प्रचीन भारत में प्रजातंत्र—भारतवर्ष में राजा और राज्य तो बहुत पुराने ज़माने से रहे हैं, पर इनका स्वरूप या आदर्श हमेशा एक ही नहीं रहा, वह समय-समय पर बदलता रहा है। प्रायः लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि प्राचीन भारत में राज्य एकतंत्री ही होते थे, अनियन्त्रित राजसत्ता हिन्दू राजव्यवस्था का अनिवार्य अंग है, और और यहाँ क्षत्रिय आदि शासक निरंकुश रहते आये हैं। इतिहास से यह बात मिथ्या और निराधार साबित होती है। वास्तव में यहाँ प्रजातंत्रों की प्रधानता रही है। प्रजातन्त्र दो प्रकार के होते थे—(१) किसी एक ही जाति के आदमियों के। इन्हें गणतंत्र कहते थे। महाभारत के शान्तिपर्व में अनेक गण-राज्यों का उल्लेख है। भीष्म पितामह ने इन्हें

बहुत बलवान बताया है। उस समय अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, शिवि (मेवाड़) आदि सब प्रान्तों में गण-राज्य फैले हुए थे। (२) कई-कई जातियों के मिले हुए आदमियों के प्रजातंत्र। इन्हें संघतन्त्र कहा जाता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में संघों का विस्तारपूर्वक विचार किया है। मौर्य सम्राटों ने अपने साम्राज्य की स्थापना के प्रयत्न में अनेक संघ राज्यों को नष्ट किया, तो भी बहुत से बचे रहे, जिनसे मित्रता करने में ही उन्होंने अपना कल्याण समझा।

किसी समय गण-राज्यों की परिषदों के सदस्य ही 'राजा' कहलाते थे। कृष्ण के समय जरासंध ने साठ हज़ार राजाओं को बन्दी कर रखा था, इसका अर्थ यह नहीं है कि साठ हज़ार अलग-अलग राज्यों के प्रधान शासक कैद थे, बल्कि यही है कि गण-राज्यों के साठ हजार प्रतिनिधि अथवा गण-परिषदों के साठ हजार सदस्य कैद हुए थे। इसी तरह जो यह कहा जाता है कि लिच्छवी संघ में ८४ हजार 'राजा' थे, तो इसका मतलब यही है कि उस संघ के इतने सदस्य थे।

राजतंत्र—पहले शासकों या मुखियाओं का चुनाव उनके गुणों के आधार पर होता था। धीरे-धीरे शासक का पद पुश्तैनी या वंशानुगत होने लगा। इस तरह राजसत्ता की नींव पड़ी। परन्तु यह राजसत्ता वर्तमान राज-व्यवस्था से जुदा ढंग की थी। राजा अपना मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा करना समझता था, और उसी में लगा रहता था, राज्य-विस्तार, युद्ध, प्रजा के दमन और शोषण आदि की उस व्यवस्था में विशेष गुंजायश न थी। धीरे-धीरे राजतंत्र बढ़ता गया। पीछे गौतम बुद्ध के प्रभाव से उसकी प्रगति रुकी और एशिया में फिर संघ तंत्रों का विस्तार होने लगा।* बुद्ध का देहान्त होने के बाद राजतंत्र ने

*मुहम्मद साहब ने भी राजतंत्रों के विस्तार को रोकने और जम्हूरियतें (संघ-तंत्र) स्थापित करने की भावना का अच्छा प्रचार किया।

ने फिर जोर पकड़ा।

आर्य सम्राट् और उनकी नीति—साम्राज्यवादियों ने ब्राह्मण धर्म की दुहाई देकर प्रजा को बौद्धों के विरुद्ध उभारा और लड़ाया। अपने स्वार्थ के लिए उन्होंने भले-बुरे सभी उपायों से काम लिया। तथापि यहाँ हजारों वर्ष तक अनेक प्रजातंत्र पुरानी शैली से काम करते रहे। धीरे-धीरे यहां अधिकतर एकतंत्र राज्य या साम्राज्य स्थापित कराने की भावना बढ़ने लगी। यद्यपि कभी-कभी कुछ शासक बहुत स्वेच्छा-चारी और अत्याचारी भी हुए हैं (प्रजा ने उनका खूब विरोध किया है), प्रायः यहां के आर्य सम्राटों की नीति यह रही है कि अपने साम्राज्य के सब भागों पर स्वयं शासन न करके केवल कुछ भाग को ही अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखा जाय, और शेष भागों के स्थानीय शासकों और स्वतन्त्र पंचायतों या जातियों से अपनी प्रभुता स्वीकार करायी जाय, एवं विशेष अवसरों पर उनसे कुछ भेंट या कर आदि लिया जाय। इस प्रकार वे सम्राट् जीते हुए राज्य की राष्ट्रीयता बनी रहने देते थे, उसके आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करते थे। जहाँ तक सम्भव होता, जीते हुए राज्य के राजपरिवार के ही किसी व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाया जाता था; हाँ, वह उत्तराधिकारी सम्राट् की प्रभुता मानता, तथा सम्राट् सम्बन्धी उत्सव आदि में उपस्थित होता और अपनी हैसियत के अनुसार कुछ उपहार भी देता था। इस प्रकार साम्राज्य में सम्राट् के अतिरिक्त अनेक स्थानीय शासक ऐसे होते थे, जिन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में राजनैतिक स्वाधीनता होती थी, जो अपने-अपने राज्यों में निर्धारित कायदे कानून और शासन-नीति प्रचलित करते थे।

पाठक जानते हैं कि रामचन्द्र जी ने रावण की लंका जीतने पर उसे कौशल राज्य में नहीं मिलाया, वरन् रावण के भाई विभीषण को ही वहां की राजगद्दी दी। इसी तरह श्रीकृष्ण ने कंस को मारने पर

मथुरा की राजगद्दी पर उसके पिता उग्रसेन को बैठाया, जरासंघ को मार कर मगध का शासक उसके पुत्र सहदेव को बनाया, और शिशुपाल को मारने पर चेदि (जब्बलपुर) के राज्य के लिए उसके पुत्र को राजतिलक दिया। नये उत्तराधिकारी अपने क्षेत्र का शासन-प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र रहे, केवल सम्राट् की प्रभुता मानते रहे।

राजाओं की स्थिति—पराजित या अधीन राज्यों सम्बन्धी इसी प्रकार की नीति के प्रचलित रहने का परिचय हमें पीछे के इतिहास में भी मिलता है। अशोक का साम्राज्य हो, गुप्त काल हो, या सम्राट् हर्षवर्द्धन का समय हो, अनेक छोटे-बड़े राजा सम्राट् की छत्रछाया में अपनी स्वाधीनता का उपयोग करते रहे। सम्राट् के लिए इन राजाओं को पदच्युत करने का अवसर बहुत कम आता था, कारण ये अपनी प्रजा को संतुष्ट रखते थे, मनमाने कायदे-कानून नहीं चलाते थे. और नित्य नये करों से जनता को पीड़ित नहीं करते थे। वास्तव में नियमों या कानूनों का आधार राजसत्ता न मानी जाकर धर्मशास्त्र माने जाते थे, जिनकी रचना निर्लोभी, निर्भीक, तेजस्वी और लोकहितैषी आचार्यों द्वारा होती थी। जब कभी धर्मशास्त्र के आदेशों को समझने में कुछ कठिनाई या संदेह होता था, तो बड़े-बूढ़े बुजुर्गों और विद्वानों की राय ले ली जाती थी। यही बात करों के सम्बन्ध में थी। प्रायः कर धर्मशास्त्र के अनुसार परम्परा से चले आते थे, यदि किसी विशेष परिस्थिति में राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे कर पर्याप्त न होते तो राजा राज्य के महाजनों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों से परामर्श करके विशेष आय की व्यवस्था करता था।

राजा के कर्तव्य—प्राचीन काल में यहाँ राजा के कर्तव्य क्या माने जाते थे, तथा शासन-नीति क्या होती थी, इस सम्बन्ध में हिन्दू धर्मशास्त्रों और महाभारत आदि में बहुत खुलासा लिखा हुआ है। हम तो यहाँ दो एक खास-खास बातों का ही ज़िक्र करते हैं। सबसे पहले स्मृति

बनाने वाले मनु ने बताया है कि राजा को परमात्मा ने बनाया ही इसलिए है कि वह प्रजा की रक्षा करे। वह राष्ट्र से वार्षिक बलि (कर) ले और जनता से पिता को तरह व्यवहार करे। जो राजा प्रजा को कष्ट देता है, वह जल्दी ही नष्ट हो जाता है। कौटिल्य (चाणक्य) ने अपने अर्थशास्त्र में आदर्श राजा की कल्पना करके कहा है कि उसे काम, क्रोध, लोभ, मान, मद आदि त्याग कर अपनी इन्द्रियों पर विजय पाने की साधना करनी चाहिए। इसके विरुद्ध व्यवहार करने से, इन्द्रियों के वश में होनेवाला राजा चारों समुद्र तक फैली हुई भूमि को राजा को भी विनष्ट कर देता है।

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार राजधर्म का मुख्य सिद्धान्त यह था कि राजप्रबन्ध ऐसा उपकारी बनाया जाय, जो प्रजा के लिए हितकारी और सन्तोषजनक हो, और देश काल का ध्यान रखते हुए राज्य के कार्यों में जनता को अधिकाधिक भाग लेने का अवसर दिया जाय।

राजाओं में विकार; मुसलमानों का शासन—प्राचीन काल में राजा प्रायः शासन सम्बन्धी आदर्श का ध्यान रखते थे। पीछे धीरे-धीरे यह बात जाती रही। राजाओं में लोभ और स्वार्थ बढ़ा। वे बुरे-भले सभी उपायों से अपना राज्य बढ़ाने लग गये। इससे उनमें एक-दूसरे के प्रति ईर्षा और शत्रुता के भाव पैदा हुए। कभी-कभी उन्हें विलासिता या ऐयाशी ने भी आ घेरा। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में राजाओं के दुर्गुण और उनकी निर्बलता साफ जाहिर हो गई। अब जोशीले मुसलमानों के हमलों का सफल होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे वे दिल्ली के तख्त पर बैठने लगे। उन्होंने थोड़े-बहुत भेद से प्राचीन शासनपद्धति अपनायी। असल में ऐसा किये बिना उनकी गुजर भी न थी। तेरहवीं सदी से तीन सौ वर्ष के अन्दर पाँच खानदानों के बादशाह हुए। उनमें कोई स्थिरता न थी; उनके आर्थिक साधन भी परिमित थे। निदान, शासन में दृढ़ता न आयी।

सोलहवीं-सतरहवीं सदी में अकबर आदि मुग़ल बादशाहों ने अपनी शक्ति अच्छी तरह केन्द्रित की, और भारतवर्ष में एक प्रबल राजसत्ता बनी रही, जिसमें जनता की सुख-समृद्धि बढ़ती गयी। पर पीछे औरंगजेब की साम्प्रदायिक भेद भाव की नीति ने अनर्थ कर डाला। उसके धार्मिक या जातिगत पक्षपात तथा उसके उत्ताधिकारियों की निर्बलता और विलासिता आदि के कारण साम्राज्य को कमजोर करने वाले साधन जुट गये। असंतुष्ट राजपूत अब सहायक न रहे, जाटों ने आगरा और मथुरा आदि पर अधिकार जमा लिया। दक्षिण भारत में, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सूबेदार प्रायः स्वाधीन हो गये। शान्त और सहिष्णु सिक्खों ने सैनिक रूप धारण करके पंजाब, पश्चिमोत्तर भारत तथा अफ़गानिस्तान आदि में अपना राज्य स्थापित कर लिया। मध्य प्रदेश में शिवा जी ने महाराष्ट्र-निर्माण का काय किया; उनके उत्तराधिकारी पेशवाओं की शक्ति बढ़ती गयी, यहाँ तक कि एक बार दिल्ली पर भी उनका अधिकार हो गया। अस्तु, अठारहवीं सदी में यहाँ कई शक्तियों का उदय हुआ। देश भर के शासन-संचालन की दृष्टि से, इनमें से किसी का यथेष्ट संगठन या विकास नहीं होने पाया था कि दूसरी घटनाएँ अपना प्रभाव दिखाने लगीं।

अँगरेज़ों का आगमन—हुआ यह कि इस बीच में डच, फ्राँसीसी, पुर्तगीज और अंगरेज आदि योरपीय जातियों के साहसी व्यापरियों ने यहाँ आकर अपने अड्डे जमा लिए। इनकी कई कम्पनियाँ स्थापित हुईं। कालान्तर में ये जातियाँ आपसी होड़ के कारण आपस में लड़ने लगीं। फूट, अज्ञान या लोभ-वश, इन लड़ाइयों में कितने ही भारतवासियों ने भी भाग लिया; कुछ एक पक्ष की ओर रहे, कुछ दूसरे पक्ष की ओर। क्रमशः कुछ बल पाकर ये योरपीय शक्तियाँ भारतवर्ष के राजा महाराजाओं से भी लड़ीं। इन शक्तियों में आखिर अंगरेजों का पलड़ा भारी रहा। उनकी हरेकर

विजय से आगे का रास्ता साफ होता गया; जीते हुए एक हिस्से के जन धन से दूसरे हिस्से पर अधिकार करने में मदद मिलती गयी। इस तरह भारतवासियों के सहयोग से, इनकी तलवार और इनके ही पैसे से अंगरेज यहाँ अपनी हकूमत कायम करने लगे।

भारतीय आदर्श; रामराज्य—यहाँ हमें खास बात यही कहनी है कि प्राचीन काल में यहाँ शासन का आदर्श रामराज्य माना जाता था। अब भी सर्वसाधारण लोग उसे ही आदर्श मानते हैं। 'रामचरित मानस' के उत्तरकाँड में श्री० गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामराज्य की रूप-रेखा बताते हुए कहा है—

बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई॥
दैहिक, दैविक, भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहिं व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब निरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोऊ दुखी न हीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी।
सब कृतज्ञ नहिं कपट समानी॥

इस प्रकार रामराज्य में ये बातें आ जाती हैं:—(१) अबैर अर्थात् आपसी लड़ाई-झगड़े का अभाव, (२) विषमता का नाश—सब वर्गों में समानता, (३) सब प्रकार के दुखों का निवारण, (४) प्रेम-भाव, मेलजोल या भाईचारा, (५) स्वधर्म या कर्तव्य का पालन, (६) स्वस्थ और दीर्घायु होना, और (७) गुणवान ज्ञानवान होना।

म० गांधी के विचार—महात्मा गांधी प्रायः कहते हैं कि मैं भारत में रामराज्य स्थापित होते देखना चाहता हूँ। उनकी कल्पना के अनुसार रामराज्य कैसा होगा? रामराज्य का अर्थ पृथ्वी पर प्रभु का राज्य किया जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से उसे पूर्ण लोकतंत्र कह सकते हैं—ऐसा लोकतंत्र जिसमें धन, सम्पत्ति, जाति, रंग, वर्ण स्त्री पुरुष आदि की सभी विषमताएँ जाती रहेंगी। ऐसे राज्य में भूमि और शासन-सत्ता पर प्रजा का अधिकार होगा। न्याय सब के लिए सुलभ होगा, सस्ता होगा, उसमें देर न लगेगी और उसमें किसी के भी प्रति अन्याय न होगा, सब को बोलने और लिखने, पूजा-पाठ करने की पूरी आजादी रहेगी—यह सब इस लिए कि उसके सभी नागरिक अपने लिए बनाये कानूनों का स्वेच्छापूर्वक पालन करेंगे। ऐसे राज्य का आधार सत्य और अहिंसा ही होगा, और उसके निवासी सम्पन्न, प्रसन्न और स्वालम्बी होंगे।

तीसरा अध्याय

देशी राज्य और कम्पनी

'मैं साम्राज्यों के ढेर लगा दूंगा, और विजय पर विजय तथा मालगुजारी लाद दूंगा। मैं इतनी शान, इतना धन और इतनी सत्ता एकत्र कर दूंगा कि एक बार मेरे महत्वाकांक्षी और लोलुप स्वामी भी त्राहि त्राहि चिल्लाने लगेंगे।'

—लार्ड वेलेजली के एक पत्र से

भारतवर्ष में अंगरेजी राज की स्थापना—मोटे हिसाब से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में अंगरेजी राज सन् १७५७ ई० से स्थापित हुआ। स्थानीय शासकों की निर्बलता का विचार

करके अंगरेज अपनी शक्ति बढ़ाने की फिक्र में रहते थे; उन्होंने कलकत्ते के किले में सैनिक तैयारी की। बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने इसका विरोध किया। इस पर दोनों में लड़ाई ठन गयी। नवाब के लोभी सेनापति मीरज़ाफर आदि ने ऐन समय पर नवाब को धोखा दिया; उधर अंगरेज सेनापति क्लाइव और वाटसन ने बड़ी युक्ति और चालाकी से काम लिया। निदान, खासकर अपनी संगठन शक्ति और कूटनीति से अंगरेज सन् १७५७ ई० में प्लासी की लड़ाई में विजयी रहे।

इस लड़ाई में मीरजाफर अंगरेजों से मिल गया था। वह अब बंगाल का नवाब बना दिया गया। उसने भी अंगरेजों को खूब धन लुटाया, कुछ भूमि पर (जिसे अब 'चौबीस परगना' कहते हैं) ज़मीदारी का अधिकार, तथा कुछ विशेष व्यापारिक अधिकार दे दिये। वह 'उनका आदमी' था; अपने पद की रक्षा के लिए उनका आश्रित था। वह नाममात्र का नवाब था, वास्तविक शक्ति अंगरेजों के हाथ में आगयी थी। जब उनकी उससे न निभी, उन्होंने उसे गद्दी से उतार दिया और उसके सम्बन्धी मीरकासिम को नवाब बना दिया। उसने कम्पनी के आदमियों की अनीति रोकनी चाही, संघर्ष बढ़ता गया। अन्त में मजबूर हो उसे युद्ध छेड़ना पड़ा। उसने सम्राट् शाहआलम (दूसरे) और अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला की सहायता ली। सन् १७६४ में बक्सर की लड़ाई हुई, उसमें कम्पनी जीत गयी। अगले वर्ष संधि हुई, जिसे इलाहाबाद की संधि कहते हैं। इससे सम्राट् ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी कम्पनी को दे दी। दीवान को मालगुज़ारी वसूल करने और खर्च करने का अधिकार होता है। इस प्रकार कम्पनी एक व्यापारिक समुदाय मात्र न रहकर शासक बन गयी। ध्यान देने की बात यह है कि कम्पनी ने इस अवसर पर अपने आपको सम्राट् का 'वफ़ादार नौकर' ('फेथफुल सर्वेंट')

माना था। इसके सौ वर्ष के भीतर अंगरेज 'वफादार नौकर' से प्रभुता-प्राप्त स्वामी बन गये; ये सम्राट् के कानूनी एवं वास्तविक उत्तराधिकारी हो गये; इस बीच की मंजिलों का इस अध्याय में आगे उल्लेख किया जायगा।

पहले कहा जा चुका है कि मुगल साम्राज्य के ह्रास के समय देश के जुदा जुदा हिस्सों के शासक स्वतंत्र होने लगे। अधिकाँश भागों में हिन्दुओं का राज्य तथा प्रभाव था। विविध प्रान्तीय शासक कहने को मुगल सम्राट् के अधीन थे पर असल में ये अपने-अपने क्षेत्र में स्वाधीन थे। क्योंकि कम्पनी को भी बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी सम्राट् की ओर से मिली थी, उसकी स्थिति अन्य प्रान्तीय शासकों के समान ही थी। इसीलिए कम्पनी की आरम्भ में अवध और मैसूर आदि से जो संधियाँ हुईं, वे उसी प्रकार की थीं, जैसी दो बराबरी के पक्षों में होती हैं।

राज्य-विस्तार—यह तो सब मानते हैं कि आरम्भ में अंगरेज यहाँ व्यापारियों के रूप में आये। परन्तु यहाँ की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का अनुभव करने पर उनका उद्देश्य और आकांक्षा राज्य-विस्तार की हो गयी, या उन्हें मजबूर होकर राज्य का भार ग्रहण करना पड़ा, इस विषय में बड़ा मतभेद है। कितने ही लेखकों ने यह सिद्ध किया है कि केन्द्रीय सत्ता की निर्बलता, स्थान-स्थान के शासकों का क्रमशः प्रभुता प्राप्त करना और इनका परस्पर में संगठन या मेल न होना, वरन् एक दूसरे की ईर्षा और छीना-झपटी करना—इन बातों से अंगरेजों को यहाँ अपनी सत्ता जमाने के लिए प्रबल प्रेरणा हुई; उनकी महत्वाकांक्षा बढ़ती गयी। यद्यपि किसी विशेष समय उन्होंने अपनी प्रगति को रोके रखने में भी अपना हित समझा, आम तौर से उनके सामने विस्तार और वृद्धि का कार्यक्रम रहा, उन्होंने यहाँ राष्ट्रीयता और एकता के अभाव से भरसक लाभ उठाया, और छल,

बल, कौशल से, जैसे भी बना, वे अपना राज्य और अधिकार बढ़ाते रहे।

इसके विपरीत, कई एक अंगरेज इतिहास-लेखकों का मत यह है कि कम्पनी असल में व्यापार ही करना चाहती थी, परन्तु यहां की अशान्ति के कारण उसे देशी राज्यों से अपनी रक्षा करने के लिए स्वतंत्र सेना रखनी पड़ी, और कभी-कभी अपना राज्य भी स्थापित करना पड़ा। परन्तु कम्पनी की इच्छा यही रही कि वह देशी राज्यों के आपसी झगड़ों में न पड़े। उसने अपने राज्य के चारों ओर एक प्रकार के घेरे की कल्पना अपने सामने रखी, इस सीमा से बाहर के राज्यों से वह कोई राजनीतिक सम्बन्ध करने की इच्छुक न थी। यह 'घेरा नीति'* सन् १८१३ ई० तक रही, उसके बाद कम्पनी इसे छोड़ने को बाध्य हुई। यह मत अङ्गरेज लेखकों का है।

कम्पनी की नीति—बात यह थी कि कम्पनी के लिए अपनी सुविधा और परिस्थिति का विचार मुख्य था। वह जब जैसा उचित समझती, भारतीय राज्यों से बर्ताव करती। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सन् १७७२ ई० तक बंगाल, बम्बई और मदरास प्रांत में उसका अधिकार काफी बढ़ गया था, अब वह व्यापार के साथ शासन भी करती थी। पार्लिमेंट में समय-समय पर उसके अधिकारों के सम्बन्ध में चर्चा होती थी। पीछे कम्पनी के रुपया माँगने पर, उसे ऋण देते समय सन् १७७३ में रेग्यूलेटिंग एक्ट नाम का कानून बनाया गया। इससे कम्पनी पर पर्लिमेंट का नियंत्रण प्रत्यक्ष रूप से होने लगा। सन १७८४ में 'पिट का इंडिया बिल' पास हुआ, उससे देशी राज्यों के सम्बन्ध में 'उदासीनता या अहस्तक्षेप नीति' × आरम्भ हुई। इसका आशय यह था कि कम्पनी देशी राज्यों में दखल न दे।

* The Policy of the Ring fence.

× The Policy of Non-Intervention.

परन्तु कम्पनी ने इस नीति का व्यवहार सिर्फ उसी दशा में किया, जब उसे ऐसा करने में फ़ायदा मालूम हुआ। सन् १७९८ में तो यह नीति हानिकर समझी जाने से, साफ़ तौर पर उठा दी गयी।

इसके बाद लार्ड वेलज़ली (१७९८-१८०५) ने अपनी नीति चलायी, जो सहायक संधि * नीति के नाम से प्रसिद्ध है। इसका मतलब यह था कि (१) जिस देशी राज्य से संधि हो, वह कम्पनी का प्रभुत्व माने, (२) वह राज्य अपने बाहरी सम्बन्ध कम्पनी को सौंप दे और कम्पनी की आज्ञा (रेज़ीडेन्ट की सलाह) बिना, किसी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध न रखे। (३) वह अपनी सेना घटा दे; उसकी रक्षा का भार कम्पनी पर रहे; इसके लिए वह अपने राज्य में कम्पनी की सेना रखे, इस सेना का सब खर्च वह राज्य दे, अथवा खर्च के बदले अपना कुछ प्रदेश कम्पनी को दे। (४) कम्पनी की आज्ञा बिना, किसी अन्य योरपीय जातिवाले को अपने यहाँ काम पर न रखे। इससे स्पष्ट है कि थोड़े से समय में कम्पनी ने कैसी प्रगति की। वह अन्य राज्यों से मित्रता और सहकारिता की सन्धि करने के स्थान पर अब उन्हें अपना आश्रित मानने लगी। इस नीति ने देशी राजाओं के चंवर, छत्र और सिंहासन आदि बाहरी लक्षणों को ही रहने दिया, और उनके वास्तविक अधिकारों को पोलिटिकल विभाग के हवाले कर दिया। राजा नाममात्र के लिए रह गये। सहायक संधियों और सहायक सेना ने मानो उनकी कमर तोड़ डाली। न उनका यथेष्ट प्रभाव या सत्ता रही और न शक्ति ही। वेलज़ली के शासन ने भारतवर्ष का अन्तर्राष्ट्रीय पद एकदम गिरा दिया। उसे यह बात सहन न हुई कि टीपू सुलतान विदेशी (फ्राँसीसी) जनरल रखे और फ्राँसीसियों से संधि करे। इसलिए उसने अपनी 'सहायक संधि' नीति चलाई जिसने यहाँ अङ्गरेज़ सत्ता को बहुत मज़बूत कर दिया; यों कहने को सन् १८१३ तक घेरा नीति

* Subsidiary Alliance

रही। सन १८१३ के बाद नयी नीति आरम्भ हुई। इसका नाम है, 'आश्रित पार्थक्य नीति'*। पहले कम्पनी यह कहती थी कि हमें अपने राज्य तथा अपने सहायकों के राज्य (जिनसे सहायक संधि हुई है) से ही मतलब है, बाहर के राज्यों से हमारा कुछ वास्ता नहीं। पर अब उसने निश्चय किया कि राज्यों के आपसी झगड़े हैं, और चारों ओर अशान्ति है, इसलिये सारे देश पर ही प्रत्यक्ष या गौण रूप से अधिकार करना आवश्यक है। निदान, यह आयोजन किया गया:—

(१) सब राज्य कम्पनी के आश्रित हों, उनकी रक्षा कम्पनी करे; इसके बदले में वे कम्पनी को कुछ भूमि या वार्षिक कर दें।

(२) कम्पनी राज्यों के भीतरी प्रबन्ध में हस्तक्षेप न करे।

(३) सब राज्य एक दूसरे से जुदा रहें; साधारण पत्र-व्यवहार के अतिरिक्त, उनका आपस में कोई सम्बन्ध न रहे; यदि किसी विषय पर दो राज्यों में मतभेद हो तो उसका निपटारा कम्पनी करे और दोनों राजा कम्पनी का निर्णय मानें।

कुशासन और असंतोष—इस नीति से राज्यों के आपसी झगड़े तथा अशान्ति अवश्य कम हुई, पर साथ ही उनके शासकों को अपनी रक्षा का पूरा भरोसा हो जाने से वे अब बाहरी शत्रुओं से बेफिक्र होने के साथ ही अपनी प्रजा के प्रति बेपरवाह हो गये। कम्पनी ने उनके भीतरी प्रबन्ध में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था; इससे वे अपने राज्य में मनमानी निरंकुशता का व्यवहार कर सकते थे। कोई रोकनेवाला न था। प्रजा को नरेशों का मानो व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ लिया गया; उसकी ओर कम्पनी ने कुछ ध्यान नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि कई राज्यों में कुशासन होने लगा और प्रजा का असन्तोष बढ़ने लगा। कम्पनी उसे चुपचाप देखती रहती, जब वह चरम सीमा को पहुँच जाता, अथवा जब उसका परिणाम कम्पनी अपने

* The Policy of Subordinate Isolation.

लिए हानिकारक समझती, तब वह उस राज्य को अपनी सेना द्वारा परास्त करके अपने राज्य में मिला लेती। कम्पनी ऐसा क्यों करती थी? ज्यादहतर, अपने राज्य के विस्तार के लिए, और कभी-कभी आत्मरक्षा या लोकहित के विचार से।

लार्ड डलहौजी के शासन-काल (१८४९-५६) में यह सिद्धान्त बना लिया गया और बहुत काम में लाया गया कि कम्पनी के अधीन माने जाने वाले जिस राजा का कोई पुत्र न हो, उसका राज्य कम्पनी के राज्य में मिला लिया जाय। वह राजा कम्पनी की आज्ञा बिना कोई लड़का गोद नहीं ले सकता था, और कम्पनी ऐसी आज्ञा आसानी से नहीं देती थी।

कम्पनी का अन्त—सन् १७५७ ई० से सौ वर्ष के भीतर कई प्रकार की नीति का अवलम्बन करके कम्पनी ने अपने राज्य को खूब बढ़ाया। अधिकांश भारत पर उसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष (देशी नरेशों द्वारा) शासन होने लगा। पर इस राज्य विस्तार का परिणाम कम्पनी के लिए अच्छा न हुआ। स्थान-स्थान पर असंतोष और विद्रोह की भावना पैदा होने लगी, जो अन्त में सन् १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-युद्ध में प्रकट हुई। विविध कारणों से, जिनके ब्योरे की यहाँ आवश्यकता नहीं, भारतवासी उस युद्ध में असफल रहे, और कम्पनी का अन्त सन् १८५८ यहाँ का शासन-प्रबन्ध इंगलैंड की महाराणी विक्टोरिया को सौंपा गया।

यद्यपि सन् १८०३ में कम्पनी ने दिल्ली के मुगल सम्राट् को अपने अधीन कर लिया था, और उस समय से 'भारत-सम्राट्' अंगरेजों की पेन्शन पानेवाला एक कमजोर आदमी था; तथापि अंगरेज अपने आपको उसकी 'प्रजा' मानते थे, और उसी से अपने सब अधिकार और सत्ता लेते थे। यह बात सन् १८५७ ई० तक रही, जब अभागा सम्राट् बहादुरशाह राजक्रान्ति में भाग लेने के अभियोग में कैदी बनाकर

रंगून भेजा गया। अंगरेजों का शासन कानून की दृष्टि से, यहाँ सन् १८५८ से ही स्थापित हुआ है।

अंगरेजी राज की स्थापना का परिणाम—भारतवर्ष में अंगरेजी राज के धीरे-धीरे अधिक दृढ़ होने का एक नतीजा तो यह हुआ कि यहां उस राष्ट्रीय केन्द्रीय सत्ता का विकास न होने पाया, जिसका होना उस समय की अव्यवस्था और गड़बड़ी मिट जाने पर स्वाभाविक और अनिवार्य था। दूसरी बात यह हुई कि कम्पनी ने देशी राज्यों को अपनी छत्रछाया में अमर बनाने का प्रयत्न किया। सन् १८५७ में हमारी आजादी की पहली लड़ाई हुई। इसमें हमारे रजवाड़ों का भी यथेष्ट भाग था। यह प्रयत्न असफल रहा। इसका आधारभूत कारण यह था कि जो वर्ग इस आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा था, और जो इसके पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रहा था, वह वास्तव में वही सामन्तशाही वर्ग था जिसकी शक्ति अब क्षीण हो चुकी थी। कम्पनी ने भारतवर्ष में सामन्तशाही को मिटने से बचाया और उस पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। संसार के दूसरे हिस्सों में सामन्तशाही जर्जर होकर मिटती जा रही थी, भारतवर्ष में भी उसका अन्त हो जाता, पर विदेशी सत्ता ने यह न होने दिया। हमारे ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक क्रम रुक गया; और हमें सामन्तशाही से छुटकारा पाने के लिए पीछे असाधारण प्रयत्न करना पड़ा, और अभी करना पड़ रहा है।

भारतवर्ष का शासन ब्रिटिश पार्लिमेंट के द्वारा होने लगने पर, उसने देशी राज्यों के सम्बन्ध में क्या नीति निश्चित की, और उसके व्यवहार में समय-समय पर क्या परिवर्तन हुए, इसका विचार आगे किया जायगा।

———

देशी राज्यों को अंगरेजी राज्य में न मिलाने का विचार; महारानी की घोषणा—अंगरेज नीतिज्ञों ने यह भी विचार किया किया कि यदि देशी राज्यों को अंगरेजी राज्य में मिलाया जाता है तो उनके राजा असन्तुष्ट होकर अपनी अपनी प्रजा को सरकार के विरुद्ध भड़काते हैं, और अशान्ति बढ़ाते हैं, तथा समस्त भारत में एकसूत्रता और संगठन हो जाने से, अंगरेजी राज्य के लिए बहुत खतरा हो सकता है। इसलिए उन्होंने यही ठीक समझा कि भारतवर्ष को राजनीतिक दृष्टि से दो जुदा-जुदा तरह के टुकड़ों में विभक्त रखा जाय।

ये विचार हैं, जिनको ध्यान में रखकर महारानी विक्टोरिया की सन् १८५८ की घोषणा के देशी राज्यों सम्बन्धी निम्नलिखित शब्दों का वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है—'ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उनसे जो संधियाँ या प्रतिज्ञाएँ की हैं वे सब हमें मान्य हैं; हम उनका अच्छी तरह पालन करेंगे। हम आशा करते हैं कि देशी राज्यों की ओर से भी इस विषय में ऐसा ही कर्तव्य पालन किया जायगा। हम अपने वर्तमान (भारतीय) राज्य का और अधिक विस्तार नहीं चाहते। जब कि हम अपने राज्य या अधिकारों पर किसी को आक्रमण न करने देंगे, हम दूसरों के (राजाओं के) राज्य या अधिकारों पर भी कोई आघात न होने देंगे। हम देशी राजाओं के अधिकारों तथा मान प्रतिष्ठा का अपने अधिकारों तथा मान-प्रतिष्ठा की तरह सम्मान करेंगे।' निदान, सन् १८५७ के बाद देशी राज्यों को ब्रिटिश भारत में मिलाना बन्द कर दिया गया। यही नहीं जैसा कि आगे बताया जायगा, सरकार ने कितने ही नये राज्य भी बनाये।

जनता की राजाओं के प्रति श्रद्धा—देशी राज्यों सम्बन्धी यह नीति निर्धारित करने में अंगरेजों ने भावुक भारतीय जनता की मनोवृत्ति और भावना का भी विचार किया। उन्होंने जान लिया कि यहां जनसाधारण की पुराने राजवंशों के प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति है। पूर्वा

ढंग के ठाट-बाट रखनेवाले, दरबार लगानेवाले, जलूस और सवारी निकालने वाले राजाओं और सरदारों से वे खूब प्रभावित होते हैं। अब तो जमाना बहुत बदल गया है। अनेक राजाओं ने जनता से बहुत निर्दयता और अन्याय का व्यवहार किया है और रियासती जनता में असंतोष और क्षोभ बढ़ा हुआ है तो भी जब कभी राजा की सवारी निकलती है, या कोई राजकीय उत्सव होता है तो जनता उसे देखने के लिए बहुत लालायित रहती है। इससे स्पष्ट है अंगरेज राजनीतिज्ञों ने भारतीय जनता की मनोवृत्ति का ठीक ही अध्ययन किया; उन्होंने इसका अपने मतलब के लिए खूब उपयोग किया। उन्होंने दिल्ली में इंगलैंड के बादशाह, युवराज, या वायसराय आदि का दरबार लगवाकर देशी राजाओं को बड़े पैमाने पर नकल की, और लोगों की साम्राज्य-भक्ति बढ़ायी।

केन्द्रीय सरकार की अधिकार-वृद्धि—ऊपर कहा गया है कि सन् १८५७ के बाद देशी राज्यों को हड़प करने और अंगरेजी राज्य में मिलाने की नीति प्रायः छोड़ दी गई; परन्तु इसके साथ ही अब सरकार देशी राज्यों में उच्च पदों पर काम करने के लिए सरकारी कर्मचारी अधिक देने लगी, दीवान नामजद करने लगी, और रेजीडेंटों द्वारा उनके गुप्त रहस्यों का परिचय प्राप्त करने तथा भीतरी शासन पर कड़ा नियंत्रण रखने लगी। मतलब यह कि अब अंगरेजी राज्य का भौगोलिक क्षेत्र बढ़ने के बजाय केन्द्रीय सत्ता का अधिकार बढ़ने लगा। ब्रिटिश सरकार ने न केवल कम्पनी का स्थान ग्रहण किया, वरन् वह अपने आपको दिल्ली के सम्राट् का भी उत्तराधिकारी मानने लगी। सर्व-साधारण में इस बात को विज्ञप्ति करने के लिए सन् १८७६ ई० में महारानी विक्टोरिया ने 'कैसरे हिन्द' अर्थात् भारत की साम्राज्ञी ('एम्प्रेस आफ इन्डिया') की उपाधि धारण की। १ जनवरी १८७७ को दिल्ली में धूमधाम से एक दरबार हुआ, और उसमें इसकी घोषणा

की गयी। यह इस बात का ज्वलंत प्रमाण था कि देशी नरेशों का दर्जा बहुत नीचा हो गया। 'इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स'* की व्यवस्था से भी राजाओं की शक्ति और अधिकार कम हो गये। इस व्यवस्था के अनुसार बड़े-बड़े राजा अपने खर्च से, निर्धारित सेना रखने लगे, परन्तु इस सेना की शिक्षा और कवायद ब्रिटिश अफसरों की देखरेख में होती थी, और यह हर समय भारत-सरकार की सहायता के लिए तैयार रहती थी। राजकुमारों की शिक्षा के लिए भी सरकार ने अपनी व्यवस्था आरम्भ कर दी, ये शिक्षा-संस्थाएँ ऐसी ही थीं कि भावी नरेशों में पहले से ही अंगरेज सरकार के प्रति अधीनता तथा राजभक्ति की भावना जड़ पकड़ ले।

यद्यपि लोगों ने विशेष ध्यान न दिया, केन्द्रीय सत्ता क्रमशः प्रगति करती रही। रेल, तार, डाक का प्रबन्ध करने में देशी नरेशों के अधिकार में स्वभावतः कमी हुई। सरकारी, या सरकार द्वारा नियन्त्रित कितनी ही रेलवे लाइनें कई-कई राज्यों में से होकर जाती हैं; रेलवे लाइन, उसके दोनों तरफ की निर्धारित भूमि, रेलवे स्टेशन और पुल आदि पर सरकार का अधिकार रहता है, और वही इस क्षेत्र में पुलिस और न्याय का प्रबन्ध करती है। यही बात उन नहरों के विषय में है, जो सरकार की निकाली हुई, और देशी राज्यों में होकर बहती हैं। सैनिक आवश्यकताओं के आधार पर भी केन्द्रीय सत्ता ने देशी राज्यों में अपना पैर फैलाया। कितने ही देशी राज्यों में छावनियाँ हैं, उनके आसपास बाज़ार लग गया, और बस्ती हो गयी, जो क्रमशः बढ़ते-बढ़ते खासे बड़े शहर बन गये। इनके चारों ओर बहुत-सी जगह खुली पड़ी रहती है, जिससे ये स्वास्थ्यप्रद रहें। जब तक इन स्थानों में छावनी रहती है; इनमें सरकार का ही प्रबन्ध होता है, देशी राज्यों

* इसका अर्थ है साम्राज्य-सेवी सेना। इसे अब 'इंडियन स्टेट्स फोर्सेज' (भारतीय राज्य सेना) कहते हैं।

का नहीं। इसी प्रकार बड़े राज्यों में रेज़ीडेंट, या कई छोटे-छोटे राज्यों के समूह के लिए एक एजन्ट रहता, उसके निवास-स्थान के पास कुछ सेना, पुलिस, स्कूल, अस्पताल आदि होने से वह भी एक नगर का स्वरूप धारण कर लेता। इस ('रेजीडेन्सी') में भी सरकारी कायदा-कानून चलता। पुनः देशी राज्यों में रहनेवाली ब्रिटिश प्रजा पर, तथा ऐसे स्थानों में जहाँ व्यापार आदि के कारण बहुत-से अंगरेज रहते, ब्रिटिश भारत के ही कानून का व्यवहार होता। ब्रिटिश भारत का कोई अपराधी यदि किसी देशी राज्य में भाग जाय तो उसके नरेश की आज्ञा से पकड़ा जाकर ब्रिटिश भारत में भेज दिया जाता। अधिकांश राजाओं को अब अपना सिक्का ढालने की अनुमति नहीं रही जिन राज्यों का अपना स्वतंत्र सिक्का रहा भी, उन्हें अपने यहाँ अंगरेजी रुपये को वही स्थान देना पड़ा, जो उसे ब्रिटिश भारत में प्राप्त था। आवश्यकता समझने पर सरकार किसी नरेश को गद्दी से उतार कर उसकी जगह उसके किसी सम्बन्धी को गद्दी पर बैठा देती। वह वहाँ के प्रबन्ध के लिए किसी को एडमिनिस्ट्रेटर भी नियुक्त कर देती। देशी नरेशों की नाबालगी में वह राज्य के शासन का प्रबन्ध करती, या रिजेन्सी द्वारा करवाती। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि सन् १८५७ के बाद देशी नरेशों को अपने-अपने राज्य गँवाने की (अंगरेजी राज्य में मिलाये जाने की) आशंका बहुत कम रही, तथापि उनके शासन सम्बन्धी अधिकार कम होते गये, और केन्द्रीय सत्ता का प्रभुत्व बढ़ता गया; यहाँ तक कि वे प्रायः ब्रिटिश सरकार के इशारे पर काम करनेवाले रह गये। यह सिलसिला अब तक चला; हाँ, बीसवीं सदी में, इस विषय में कुछ नयी बातों का प्रभाव पड़ने लगा। इस का विचार आगे किया जायगा।

नीति-परिवर्तन—यह साफ जाहिर है कि देशी राज्यों के सम्बन्ध में सरकार की नीति समय-समय पर बदलती रही। सरकार ने अपने

हित और स्वार्थ का विचार करके उनके प्रति उदासीनता या अ-हस्त-क्षेप का व्यवहार किया, कभी उन्हें अपना सहायक मित्र कहा, और पीछे सुविधा होने पर उन्हें अपना आश्रित बना डाला। कभी उसने उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लेने की ओर तेज़ी से कदम बढ़ाया, और कभी उनके राज्यों को ज्यों का त्यों बनाये रखने का ही नहीं, नये-नये राज्य बनाने का भी निश्चय किया।

नीति-परिवर्तन सम्बन्धी यह कथन सरकारी तौर पर भी पुष्ट हो चुका है। माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (१९१८) में कहा गया है—'देशी राज्यों सम्बन्धी नीति समय-समय पर बदलती है। किसी समय यह नीति थी कि अपने दायरे के बाहर किसी मामले में सरकार कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करती थी। यह नीति यहाँ तक बदली कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने देशी राज्यों को अपनी अधीनता में लाकर आन्तरिक व्यवस्था में उन्हें स्वाधीन रख छोड़ने की नीति ('सबार्डिनेट आइसोलेशन' की नीति) प्रचारित की। आगे चलकर यह नीति भी बदल दी गयी और उसके स्थान पर राज्यों और भारत-सरकार के बीच में ऐसी नीति स्वीकृत हुई, जिसका मतलब यह था कि राज्यों को सर्वोच्च सत्ता (भारत-सरकार) के साथ मेल और सहकारिता करनी चाहिए।'

सरकार को देशी राज्यों से सहयोग की आवश्यकता— सरकार को देशी राज्यों से मेल और सहयोग की आवश्यकता क्यों हुई? देश भर में राष्ट्रीय आन्दोलन करनेवाली महान संस्था कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ ई० में हो चुका था। आरम्भमें उसकी नीति सुधारों के लिए प्रार्थना-पत्र या डेप्यूटेशन भेजने की रही। परन्तु इसे विशेष सफलता न मिली। सरकार ने जनता की राजनैतिक जागृति को दमन करने का प्रयत्न किया। इससे एक ओर देश में कुछ हिंसक क्रान्ति की घटनाएँ हुईं और दूसरी ओर शासन-सुधार का आन्दोलन बढ़ता गया। इससे सरकार को चिन्ता हुई। कांग्रेस का ज़ोर बढ़ता

गया। सरकार को भी अपनी शक्ति बढ़ाने की फिक्र हुई। उसने ऊपरी मध्य वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध उभारा उसने मुसलमानों और सिक्खों को तथा हरिजनों आदि निम्न जातियो को सवर्ण हिन्दुओं के विरुद्ध खड़ा करके और यथा-सम्भव इन सभी को अपना और मिलाने की कोशिश की। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की गति निरन्तर बढ़ती गयी। यह देखकर अब उसने देशी राजाओं का सहयोग प्राप्त करने तथा अपना मोर्चा और अधिक मज़बूत करने की बात सोची। लार्ड कर्जन ने सन् १६०० में भारतमंत्री को सूचित किया कि मेरा निजी विश्वास है कि कांग्रेस नष्ट होनेवाली है, और मेरी प्रबल अभिलाषा है कि मैं इसको नष्ट करने में सहायक हो सकूं। इसके प्रभाव को नष्ट करने के लिए भी नरेशों को सगठित करना आवश्यक है।' लार्ड मिंटो ने भी कांग्रेस का प्रभाव और शक्ति घटाने के लिए दूसरे उपायों में देशी नरेशोंका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक समझा। उसने सन् १६१० में उनकी एक सभा इस- लिए की थी कि भारतवर्ष में बढ़ते हुए 'राजद्रोह' को दमन करने के उपायों पर विचार किया जाय।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी हो गयी, जिससे सरकार को देशी राज्यों से प्रीति बढ़ी। सन् १६१४ ई० में (प्रथम) योरपीय महा- युद्ध छिड़ गया। इंगलैंड के सिर पर सङ्कट खेलने लगा। उसे जन-धन की अपरिमित आवश्यकता हो गयी। उसने भारतवासियों से महायुद्ध के लिए भरसक त्याग करने के लिए हृदयग्राही अपीलें की। अंगरेजों ने देखा कि ब्रिटिश भारत की बहुत सी जनता का रुख उनकी ओर अच्छा नहीं है, वहाँ गत वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा है, उनकी सहायता नपी-तुली ही होगी। हाँ, राजा लोग अपने-अपने राज्य की जनता को दबाकर, रणक्षेत्र के लिए खूब जन-धन की आहुति दे सकते हैं। निदान, सरकार ने उन्हें अपनी ओर मिलाने की

बात सोची। उसकी इस समय की, देशी राज्यों सम्बन्धी नीति 'प्रेम या लुभाने की नीति'* कही जा सकती है।

ब्रिटिश भारत की परिस्थिति भी इसमें सहायक हुई। यहाँ की जनता अंगरेजों और मित्र-राष्ट्रों के मुँह से छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त आदि की बातें सुन कर तथा आयर्लैंड को स्वराज्य पाते देख कर अपने जन्मसिद्ध अधिकार स्वराज्य पाने को उत्सुक थी। उसे सन् १९१७ ई० में भारत-मंत्री द्वारा पार्लिमेंट में की हुई घोषणा में शासकों की हिचकिचाहट और सदेह की भावना मालूम हुई; उस घोषणा के फल-स्वरूप जो मांट-फोर्ड (मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड) योजना प्रकाशित की गयी, वह भी असन्तोषप्रद रही। इसी समय अधिकारियों ने 'रोलेट एक्ट' नाम के दमनकारी कानून का, भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा घोर विरोध होते हुए, निर्माण किया। इस पर जनता ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह और असहयोग किया। सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए स्वयं तो भले-बुरे अनेक उपाय किये ही, उसने इस कार्य में राजाओं का भी सहारा लिया।

अब तक सरकार शासनपद्धति में यथेष्ट सुधार न करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव की आड़ लेती थी; असहयोग आन्दोलन से मालूम हो गया कि इन दोनो जातियों का आपसी समझौता हो सकता है। उधर जनता में असंतोष बना था, मांट-फोर्ड सुधारों से उसका निवारण नहीं हुआ था। ऐसी दशा में ब्रिटिश अधिकारियों ने देशी नरेशों का प्रश्न उठाकर अपनी कूटनीतिज्ञता का खूब परिचय दिया। जहाँ पहले सरकार देशी नरेशों को देश की राजनीति में भाग लेने से दूर रखा करती थी, अब व्यवस्थापक सभा में शासन-सुधारों का प्रस्ताव उपस्थित होने पर सरकार की ओर से तत्कालीन गृह-मंत्री सर मेलकम हेली साहब ने कहा कि 'सवाल यह है कि क्या देशी नरेश, जहाँ तक

---

*The Policy of Wooing.

उनके सम्बन्ध की बात आती है, भारतीय व्यवस्थापक मंडल को उत्तर-दायित्व सौंपा जाना स्वीकार करेंगे!"*

नरेशों का दृष्टिकोण—अब राजाओं की दृष्टि से विचार करें। देश में राजनीतिक जागृति और प्रजातन्त्र के भाव बढ़ रहे थे। इसमें राजाओं को अपने लिए खतरा मालूम हुआ। उन्होंने सोचा कि राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर ब्रिटिश भारत की सीमा तक ही न रहेगी। जल्दी नहीं तो कुछ देर में वह देशी राज्यों में भी आकर रहेगी, और रियासती जनता अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन करने से रुकी नहीं रहेगी; फिर हमारी यह मनमानी हुकूमत, यह विलासिता और यह ऐश्वर्य कहाँ रहेगा! यह सोच कर उन्होंने सरकार की सहायता करना ज़रूरी समझा, और ऐसा करने में कोई कसर उठा न रखी!

राजाओं का संगठन और उसका कार्य—ऐसी दशा में सरकार का उनकी ओर झुकना स्वाभाविक ही था। उनकी सहायता अधिक से अधिक मिले, इस विचार से उसने उनके सङ्गठन की माँग पर भी सहानुभूति से विचार किया। सन् १९२१ में नरेन्द्र मंडल स्थापित किये जाने का एक खास उद्देश्य यह था कि यह राष्ट्रीय विरोधी मोर्चे में सरकार को सहयोग प्रदान करे। पर स्वतंत्रता का युद्ध एक बार अच्छी तरह आरम्भ हो जाने पर चलता ही रहता है। ब्रिटिश सरकार और देशी नरेशों का गठबन्धन हो जाने पर भी राष्ट्रीय आन्दोलन बन्द न हुआ। देशी राज्यों में भी आन्दोलन की प्रगति होते रहना स्वाभाविक था। जनता स्वेच्छाचारी नीति का विरोध और उत्तरदायी शासन की माँग करने लगी। कई राज्यों में प्रजा परिषद, प्रजा मंडल या लोकपरिषद संस्थाएँ आदि बन गयीं और शासकों का ध्यान उन्नति के कार्यों की ओर दिलाने लगी। सन् १९२७ ई०

---

*देखिए श्री० पथिक जी की What are the Indian States?

में अखिल भारतवर्षीय देशी राज्य लोक परिषद् कायम हो गयी, जिसका उद्देश्य समस्त वैध और शान्त उपायों से देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन प्रचलित करना है। कांग्रेस ने भी अपनी परिस्थति और शक्ति के अनुसार इस कार्य में योग दिया। परन्तु इन बातों का ब्योरा आगे के लिए छोड़कर हमें अभी तो यही विचार करना है कि नरेशों ने विगत वर्षों में संगठित होकर क्या-क्या कार्य किया।

सन् १९२७ में जब कि ब्रिटिश भारत के शासन-सुधारों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए 'साइमन कमीशन' नियुक्त हुआ तो नरेशों ने इस विषय की जाँच की जाने की माँग की कि उनका ब्रिटिश सरकार से कैसा सम्बन्ध रहे। इस पर सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की, जिसे उसके सभापति के नाम पर 'बटलर कमेटी' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा; यहाँ यही कहना है कि कुल मिलाकर कमेटी की सिफारिशें नरेशों की इच्छानुसार न थीं; वे असन्तुष्ट रहे। उन्होंने इङ्गलैंड में अपने पक्ष का प्रचार किया, जब कि वहाँ साइ-मन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार होकर, नये शासन-विधान की योजना बन रही थी। इसके जवाब में कॉंग्रेस, और देशी राज्य लोक परिषद् ने भी अपनी शक्ति भर आन्दोलन किया। परन्तु इनके पास ऐसे साधन कहाँ थे, जैसे राजाओं को सहज ही प्राप्त थे। फिर, अंगरेज अधिकारी भी तो राजाओं की ही ओर झुकने में अपना हित मानते थे, और राजा लोग संगठित थे।

सन् १९३५ का विधान और राजा—गोल मेज परिषदों (१९३०-.२) के अवसर पर ब्रिटिश और भारतीय राजनीतिज्ञों ने अपने-अपने स्वार्थ वश राजाओं का सहयोग प्राप्त करना चाहा। इसका नतीजा यह हुआ कि राजाओं ने अपने सहयोग का अधिक से अधिक मूल्य माँगा और अँगरेज राजनीतिज्ञों से उन्हें मिल भी गया। सन् १९३५ के विधान में, रियासती जनता की उपेक्षा करके, राजाओं को

संघीय व्यवस्थापक मंडल में बहुत अधिक प्रतिनिधित्व, तथा दूसरे संरक्षण और सुविधाएँ दी गयीं। इसके अतिरिक्त राजाओं को यह अधिकार दिया गया कि वे स्वयं यह निश्चय करें कि संघीय विषयों में से किस-किस में वे सङ्घीय व्यवस्थापक मंडल का कानून बनाने का अधिकार स्वीकार करते हैं। ऐसी बातों से यह स्पष्ट है कि राजाओं की निरंकुशता कम करने की कुछ चेष्टा नहीं की गयी; इसके विपरीत, ऐसी परिस्थिति बना दी गयी कि यदि वह संघ-शासन विधान कार्यान्वित होने लगे तो ब्रिटिश भारत के नेताओं के लिए देशी राजाओं को प्रसन्न रखने और उनका सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता निरन्तर बनी रहे; और इसके लिए नरेशों को मुँह-माँगी कीमत दी जाने की तैयारी करनी पड़े। इस प्रकार राजाओं का महत्व अधिक-से अधिक करने में कोई कसर न रखी गयी। परन्तु, अपने मन कुछ और है, विधाता के कुछ और। अनेक कारणों से संघ विधान अमल में ही नहीं आया।

दूसरा योरपीय महायुद्ध और उसके बाद—सन् १९३९ में दूसरा योरपीय महायुद्ध शुरू हो गया इसमें भी राजाओं ने जी खोलकर ब्रिटिश सरकार की सहायता की। उनकी सम्राट्-भक्ति के पीछे उनके अस्तित्व का भी प्रश्न था। अधिकतर नरेश ब्रिटिश सरकार के ही सहारे राजगद्दी पर बने रहना और अपनी स्वेच्छाचारिता बनाए रखना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार को अपने स्वार्थवश उनकी सहायता की बहुत ज़रूरत थी। इस लिए उसने उनका बहुत लिहाज रखा। सन् १९४२ में ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष के के भावी शासन की एक योजना लेकर आये थे, उसे साधारण बोल-चाल में 'क्रिप्स योजना' कहते हैं। इसमें अन्य बातों के साथ यह भी कहा गया था कि भारत का भावी विधान बनाने के लिए जो सभा बनायी जायगी, उसमें बृटिश भारत के प्रतिनिधि तो जनता द्वारा चुने जायँगे, लेकिन देशी राज्यों के प्रतिनिधि राजाओं द्वारा नामज़द किए

जायँगे। इसके बाद जब विधान बन चुकेगा तो इस बात का भी निर्णय राजा लोग ही करेंगे कि वे अपने राज्य को भारतीय संघ में शामिल करेंगे या नहीं; जो राजा भारतीय संघ में शामिल न हों वे ब्रिटिश सरकार के साथ सन्धि-सम्बन्ध रख सकेंगे।

सन् १६४५ में वायसराय लार्ड वेवल ढाई महीने लन्दन में ब्रिटिश अधिकारियों से सलाह-मशविरा करके यहाँ जो योजना लाये, उसमें देशी राज्यों को अछूता ही छोड़ दिया गया। उन्होंने कहा कि मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस योजना का सम्बन्ध केवल ब्रिटिश भारत से है, और सम्राट-प्रतिनिधि के साथ राजाओं के जो सम्बन्ध हैं, उनमें इससे कोई अन्तर नहीं होगा। ऐसी योजना राजाओं को अपनी स्वच्छन्दता बनाए रखने में सहायक थी और साथ ही अँगरेजी कूटनीतिज्ञों की भारतवर्ष को दो तरह के टुकड़ों में बांटे रखने की नीति के अनुकूल भी थी।

अब तो भारत का नया विधान बन रहा है। उसके अनुसार देशी राज्यों की जो स्थिति होगी, उसके बारे में आगे लिखा जायगा।

पाँचवाँ अध्याय

वर्तमान रियासतें क्यों बनी रहीं ?

अंगरेजों ने सारे भारतवर्ष को ही अपने अधीन क्यों नहीं कर लिया, बीच-बीच में कुछ खाली जगह क्यों छोड़ दी? इसका जवाब संक्षेप में यह है कि उन्होंने इस प्रश्न को साम्राज्यवाद के दृष्टिकोण से देखा कि आखिर उनके लिए कौनसी बात अधिक हितकर होगी—(१) देश के कुछ हिस्सों में रियासतें बनी रहने देना और नई रियासतें भी बना देना, या (२) रियासतों को बिल्कुल मिटा देना। बहुत सोच विचार और अनुभव के बाद उन्हें पहली बात ही ठीक जची।

बहुत सी रियासतों को ब्रिटिश सरकार ने बनाया—ब्रिटिश सरकार ने अपने स्वार्थ को ध्यान में रख कर कुछ पुरानी रियासतों को ही नहीं बने रहने दिया, उसने बहुत सी नई रियासतें भी बना डाला। श्री० प्यारेलाल जी ने अपना 'देशी राजाओं का दर्जा' नाम की पुस्तक में बताया है कि मध्यप्रान्त में, १८१८ में पेशवा द्वारा अन्तिम रूप से छोड़े हुए मरहठा राज्य के पुनरुत्थान को रोकने के लिए, अंगरेजों को राजपूत रियासतों की स्थापना ही ठीक नीति मालूम हुई; और इस प्रकार इस विस्तृत प्रदेश का प्रत्येक भाग, जहाँ घरेलू और लूट-खसोट की लड़ाइयों ने सब प्रकार के राजनीतिक चिन्हों को विलुप्त कर दिया था, एक सगठित सत्ता के अधीन किया गया और इन खंडहरों में से कम नहीं, १४५ रियासतें बनायी गयीं।

इसी प्रकार सन् १८५७ में जिन राज्यों ने ब्रिटिश सत्ता की मदद की, उनके प्रति विशेष प्रेम दिखाया गया। इस सारी उथल-पुथल पर बारीकी से विचार करने पर इस बारे में जरा भी सन्देह नहीं रहता कि ब्रिटिश सरकार ने ही देशी राज्यों को बनाया है। यह कहना कि ये देशी राज्य पहले से थे, और अंगरेजी सरकार ने सिर्फ उस इलाके का निर्माण किया है, जिसे ब्रिटिश भारत कहते हैं, सत्य से मुँह मोड़ना है। आज के राजा पहले विविध प्रदेशों के सूबेदार थे और उच्च अधिकारियों के मातहत थे। इन्हें नकद वेतन देने के बजाय ज़मीन का हिस्सा दे दिया गया था। पीछे ये अपने स्वतंत्र अस्तित्व पर जोर देने लगे। असलियत यह है कि अगर ब्रिटिश सरकार ने इनके माथे पर अपना वरद हस्त न रखा होता तो ये अपना निरंकुश शासन कायम नहीं रख सकते थे।

देशी राज्यों के ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाए जाने का, उड़ीसा के राज्यों का उदाहरण एक खास ढग का है। ये राज्य मुगलों के समय में तथा नागपुर के भोंसलों के समय में उड़ीसा के स्वतंत्र राजाओं के

अधीन छोटी-छोटी ज़मीदारियां थीं। अंगरेजों के शासन-काल में भी लगभग ८० वर्ष तक इनसे जमींदारियों की तरह व्यवहार हुआ। सन् १८८३ में सब स्थानीय अधिकारियों तथा दो न्यायशास्त्रियों (सर हेनरीमेन और अलन होवहाउस) के मत के विरुद्ध भारतमंत्री ने, साम्राज्यिक नीति के आधार पर इन ज़मीदारियों को ब्रिटिश भारत से बाहर देशी राज्य घोषित कर दिया। उस समय से इनके छोटे-छोटे राजाओं को अधिकाधिक अधिकार दिए जाते रहे। सन् १९२० तक इन पर जो कड़ा निरीक्षण रहता था, वह भी पीछे हटा दिया गया।

'साम्राज्य को बढ़ानेवाले सदा अपनी युद्ध-कुशलता और वीरता पर ही निर्भर नहीं रहते। वे अपने विपक्षी के दगाबाज नौकरों को मिला लेते हैं। कुछ दशाओं में यहाँ भी ऐसे लोग राजा या नवाब बना दिये गये। इस प्रकार भारतवर्ष में कई प्रकार के देशी राज्य हैं। कुछ राज्य पुराने और प्रतिष्ठित हैं। कुछ नए राज्यों की नींव विश्वासघात और देशद्रोह पर पड़ी है।'* स्मरण रहे कि पुराने राज्य भी अब एक प्रकार से ब्रिटिश साम्राज्य की ही कृति हैं; उनका पहले का स्वरूप नष्ट हो गया है।

अंगरेज लेखकों की साक्षी—अंगरेज लेखकों ने इस बात को साफ स्वीकार किया है। मिसाल के तौर पर सर एलफ्रेड लायल अपनी 'एशियाटिक स्टडीज़' नाम की पुस्तक में लिखते हैं—जहाँ अति प्राचीन काल की राजनीतिक संस्थाएँ अब तक मौजूद हैं, अंगरेज ही उनको नष्ट होने से बचानेवाले हैं।' इसी तरह सर जान स्ट्रेचे अपनी पुस्तक * में लिखते हैं—"ये (देशी रियासतें) ही भारत के ऐसे भाग हैं, जहाँ की प्राचीन राजनीतिक संस्थाएँ और प्राचीन वंश पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार की बदौलत कायम हैं।"

---

* भूगोल: देशी राज्य अंक।

* India. Its Administration and Progress.

देशी राज्यों की जाँच के लिए नियुक्त बटलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इन राज्यों के स्वतंत्र अस्तित्व का खंडन करते हुए साफ लिखा है कि लगभग सभी राज्य मुगल साम्राज्य, मराठों की सत्ता या सिक्ख-राज के अधीन थे या उनके सामन्त थे, और उन्हीं पर इनका अवलम्ब था। कुछ राज्यों को अँगरेजों ने मरते-मरते बचाया था, और कुछ नये बनाए गये थे। निदान, देशी राज्यों की मौजूदा राजनीतिक स्थिति अंगरेजी अमलदारी का प्रसाद है।

इन राज्यों को क्यों बनाया गया ?—पाठक जानते हैं कि सन् १८५७ के पहले यहाँ जो कम्पनी-सरकार थी, उसकी इच्छा व्यापार के साथ-साथ साथ राज्य-विस्तार करने की भी रही। लार्ड डलहौजी (१८४८-५६) ने 'जब्ती के नियम' (डाक्ट्रिन आफ लेप्स) के अनुसार कितने ही देशी राज्यों को सिर्फ इस आधार पर अंगरेजी अमलदारी में मिला लिया कि उनके राजाओं के मरते समय उनका कोई कुदरती वारिस या उत्तराधिकारी न था। उसने राजाओं को लड़का गोद लेने की इजाजत नहीं दी। सन् १८५७ में राजाओं ने हर तरह अंगरेजों की मदद की। वायसराय लार्ड केनिंग के शब्दों में 'देशी सरकार के छोटे-छोटे टुकड़ों (देशी राज्यों) ने उस तूफान को रोकने में बन्दरगाह की आड़ का काम किया, जो हमें एक ही लहर में बहा ले गया होता।' इसी प्रकार सर जान स्ट्रेचे ने लिखा है—'सन् १८५७ के विद्रोहों ने निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया कि देशी रियासतें हमारे लिए कमज़ोरी के नहीं, बल्कि शक्ति के स्रोत हैं। और शायद ही कोई रियासत ऐसी हो, जिसने अत्यन्त कठोर परीक्षा और विपत्ति के समय वफ़ादारी न दिखायी हो।' निदान, देशी राज्यों की इस 'वफ़ादारी' (अथवा देशद्रोह ?) को देखकर अंगरेजों ने सन १८६० से अपनी नीति बदली। अंगरेज अब देशी राज्यों की रक्षा करने और नये राज्य बनाने लगे।

पहले कहा गया है कि अंगरेजों ने बहुत से राज्य बहुत छोटे-छोटे बनाये। उनका यह काम कूटनीति से खाली नहीं था। श्री० जगदीश प्रसाद जी चतुर्वेदी बी० ए०, एल-एल० बी० ने लिखा है—'उन्होंने कुछ बड़ी-बड़ी रियासतों के साथ सम्बन्ध करने के बजाय पचासों छोटी छोटी रियासतें रख कर जनता को विभाजित करना पसन्द किया। फलतः जहां एक की चार रियासतें बन सकीं, बनायी गयीं। छोटी-छोटी रियासतों को आपस में लड़ाना, उन पर शासन करना और उनकी जनता को दबाना आसान होता है। इसलिए कम्पनी-सरकार ने मध्य-भारत, काठियावाड़, उड़ीसा, शिमला तथा राजस्थान के छोटे से छोटे से जागीरदार को भी स्वतंत्र इकाई माना। वह जानती थी कि इससे यहां की जनता निर्जीव, पंगू और पिछड़ी रह जायगी। पर जनता की दशा सुधारना तो ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य था भी नहीं।'*

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार यह साफ जाहिर है कि वर्तमान देशी राज्यों को अंगरेजों ने बनाया है, या जानबूझ कर बना रहने दिया है। इसमें उनका उद्देश्य अपने साम्राज्य की शक्ति बढ़ाना रहा है। अब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। बृटिश सरकार जा रही है, और भारत में उसकी साम्राज्यवादी नीति की समर्थक संस्थाओं की कोई गुंजायश नहीं है। जो देशी राज्य अब यहाँ रहेंगे, वे यहाँ की जनता के लिए हितकारी होकर ही रह सकेंगे।

---

*'लोकवाणी' नववर्ष, राजपूताना प्रान्त निर्माण अंक।

छठा अध्याय

देशी राज्यों का वर्गीकरण

देशी राज्यों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। हम उनके मुख्य-मुख्य भेदों का ही विचार करेंगे—

भौगोलिक दृष्टि देशी राज्यों का भौगोलिक दृष्टि से वर्गीकरण करना बहुत आसान है। नक्शे से यह सहज ही मालूम हो सकता है कि कौनसा राज्य भारतवर्ष के किस भाग में है, कौनसा राज्य इतना बड़ा है कि अकेला ही एक समूह माना जा सकता है, कौन से राज्य इकट्ठे एक ही जगह एक-दूसरे से मिले हुए हैं, और कौन-कौन से राज्य छोटे-छोटे होते हुए भी एक-दूसरे से अलग हैं। ऐसा वर्गीकरण राज्यों की प्राकृतिक स्थिति और जल-वायु आदि समझने में सहायक हो सकता है। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है।

२—संधियाँ और सनदें—इनके सम्बन्ध में खुलासा आगे लिखा जायगा। कम्पनी के समय में स्वतंत्र संधि-राज्यों और पराधीन राज्यों में स्पष्ट भेद किया जाता था। पीछे यह बात न रही। सन् १८५७ ई० के बाद सब राज्यों से बहुत-कुछ एकसा व्यवहार करने की नीति अपनायी गयी है। सम्राट् (ब्रिटिश नरेश) ने मुगल बादशाह का स्थान ग्रहण कर लिया। मुगल बादशाह को जो अधिकार प्राप्त थे, वे सम्राट् को प्राप्त हो गये, चाहे उनका उल्लेख संधियों में न भी हो। इस प्रकार संधियों के आधार पर किया हुआ वर्गीकरण प्रायः इतिहास या सरकारी कागजों का ही विषय है।

३—सलामी—लार्ड चेम्सफोर्ड को नरेन्द्र मंडल की स्थापना के

सम्बन्ध में विचार करते समय यह स्वीकार करना पड़ा था कि लिखित प्रमाण अपूर्ण तथा अपर्याप्त हैं; देशी राज्यों का वर्गीकरण करने की व्यावहारिक विधि यही है कि इस बात का विचार किया जाय कि किन-किन नरेशों को परम्परा के अनुसार कितनी तोपों की सलामी का अधिकार है। भारतीय राजाओं में से ११८ को सलामी का सम्मान प्राप्त है। इन राजाओं में से जब कोई अपने राज्य से बाहर जाता है, या बाहर से आता है, अथवा राजा की हैसियत से ब्रिटिश भारत में आता है या यहाँ से लौटता है तो उसके सम्मान के लिए निर्धारित संख्या में तोपें छोड़ी जाती हैं, यह संख्या ६ से २१ तक होती है। किसी के लिए ६, किसी के लिए ११, १३, १५, १७, १६ या अधिक-से-अधिक २१।* सलामी के तीन भेद हैं:—(क) स्थायी, जो वंश-परम्परा से मिलती आयी है, और मिलती रहेगी, (ख) व्यक्तिगत, जो किसी नरेश को उसके जीवन-काल के लिए ही हो, उसके उत्तराधिकारियों के लिए नहीं, और (ग) स्थानीय, अर्थात् राजा को केवल अपने राज्य के भीतर मिलनेवाली सलामी।

सलामी से यह अवश्य विदित होता है कि भिन्न-भिन्न राजाओं को कितना सम्मान प्राप्त है, परन्तु यह राज्यों के वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं कहा जा सकता।

४—राजाओं का सरकार से सम्बन्ध—लार्ड आलीवर का कथन है कि देशी राज्यों की तीन श्रेणियाँ हैं:—(क) वे अर्द्ध स्वाधीन राज्य, जिनका भारत-सरकार से सम्बन्ध ऐसी सधियों पर निर्भर है जिनमें आन्तरिक शासन की सत्ता और अधिकार भारत-सरकार को नहीं सौंपे गये। (ख) वे राज्य जिनमें सरकार के हस्तक्षेप सम्बन्धी कुछ अधिकार

*ग्यारह या इससे अधिक तोपों की सलामी वाले राजा महाराजा 'हिज हाइनेस' कहलाते हैं पहले योरपीय महायुद्ध के समय से निजाम हैदराबाद को 'हिज़ एग्ज़ाल्टेड हाइनेस' की उपाधि है।

संधियों द्वारा स्थापित हो गये हैं, और जिनकी स्वतंत्रता इसलिए स्पष्ट रूप से आंशिक है; जिन पर सरकार का प्रभावपूर्ण निरीक्षण हो सकता है। (ग) वे सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य जिनके पूर्ण नियंत्रण का अधिकार ब्रिटिश सरकार को है, और यह अधिकार उसने उन अन्य नरेशों से ले लिया है, जिनका उन पर पहले आधिपत्य था।

इस वर्गीकरण का आधार यह बात है कि देशी राज्यों से सरकार का सम्बन्ध किस तरह का है। पर इस सम्बन्ध का निश्चित स्वरूप नहीं बताया जा सकता। अधिकाश राज्यों से संधियाँ नहा हैं, तथा अनेक नई समस्याएँ तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, और कितने ही बातें किसी लिखित सूचना के आधार पर न की जाकर, राजनीतिक व्यवहार के अनुसार होती हैं। इसलिए यह वर्गीकरण ठीक नहीं है, और बहुत कठिन भी है।

५—राजाओं के अधिकार—श्री० के. एम. पानीकर ने देशी राज्यों की तीन श्रेणियाँ की हैं—(क) जिनके राजाओं को संधियों से अपने-अपने राज्य के भीतर पूर्ण और वास्तविक प्रभुता का अधिकार है। इन्हें अपने राज्य की सीमा में शासन और कानून-निर्माण की स्वतंत्रता है।* (ख) जिनके राजा दीवानी और फौजदारी के अधिकार तथा कानून बनाने की सत्ता का उपयोग अंशतः, और सरकार की निगरानी में ही, कर सकते हैं। (ग) जिनके राजाओं के अधिकारों का आधार सरकार द्वारा दी हुई सनदें हैं। इन्हें शासन और कानून-निर्माण का अधिकार नहीं। अधिकांश राज्य इसी श्रेणी में है। यह वर्गीकरण राजाओं की दृष्टि से चाहे जितने महत्व का हो, पर राजा ही तो राज्य नहीं हैं, राज्यों के वर्गीकरण में जनता को प्रधानता मिलनी चाहिए।

---

*असल में किसी भी राजा को अपने राज्य में 'वास्तविक प्रभुता' या 'शासन और कानून-निर्माण की स्वतंत्रता' नहीं है। यहाँ आपेक्षिक दृष्टि से ही अभिप्राय है।

५—नरेन्द्र मंडल की मेम्बरी—राजाओं की इस संस्था के विषय में विशेष रूप से आगे लिखा जायगा। इसकी सदस्यता के विचार से राज्यों के तीन भेद हैं—(क) वे राज्य जिनके राजा पृथक् पृथक् रूप से मंडल के सदस्य हैं। इनकी संख्या १०६ है। (ख) वे राज्य जिनके राजाओं को मिलाकर अपनी ओर से १२ सदस्य मडल में भेजने का अधिकार है। इन राजाओं की संख्या १२६ है। (ग) वे छोटे-छोटे नाम-मात्र के राज्य जिनके राजाओं आदि की ओर से मंडल में कोई सदस्य नहीं है। इनकी संख्या ३४६ है। इस वर्गीकरण का आधार कितना कमजोर है, यह इसी से ज़ाहिर है कि नरेन्द्र मण्डल के संगठन में एक मुख्य विचार यह रहा कि नरेशों को मिलनेवाली सलामी का लिहाज रखा जाय, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है।

६—खिराज—खिराज देने की दृष्टि से देशी राज्यों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है:—(क) वे राज्य जो सरकार को या किसी अन्य देशी राज्य को खिराज या ('ट्रिब्यूट') देते हैं (ख) वे राज्य जो खिराज नहीं देते। यह विभाजन एक खास विचार से किया जाता है, और कुछ बड़े-बड़े राज्य भी खिराज देते हैं, जब कि अनेक छोटे-छोटे राज्य इससे मुक्त हैं। फिर, खिराज का परिमाण भी ऐतिहासिक कारणों पर निर्भर है। केवल उसके आधार पर किसी राज्य का दर्जा नहीं ठहराया जा सकता।

७—क्षेत्रफल—रियासतों के क्षेत्रफल सम्बन्धी कुछ बातें इस पुस्तक के पहले अध्याय में दी गयी हैं। यह तो जाहिर ही है कि बहुत छोटे-छोटे प्रदेशों के अलग-अलग राज्य नहीं रहने चाहिए, और राज्य का विस्तार भी उसके गौरव का सूचक हो सकता है। इसलिए राज्य के क्षेत्रफल का अपना महत्व है। परन्तु इसे वर्गीकरण का आधार मानना ठीक नहीं है। कारण, एक अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रफल वाले राज्य की आबादी और आमदनी अपने से छोटे राज्य की जनसंख्या और

आय से कम हो सकती है। मिसाल के तौर पर जैसलमेर का क्षेत्रफल राजपूताना के कई राज्यों से अधिक होने पर भी यहाँ की जनसंख्या और आय उनसे कम है। इस प्रकार क्षेत्रफल के आधार पर रियासतों का महत्व निर्धारित करना ठीक नहीं है।

८—**जनसंख्या और आय**—इन्हें भी देशी राज्यों के वर्गीकरण का आधार बनाना उचित नहीं है। यदि किसी राज्य में जनता पर बहुत सख्ती करके आय बढ़ा ली जाय तो इस बढ़ी हुई आय के कारण उसे ऊंचे दर्जे का क्यों माना जाय! इसी तरह एक राज्य दूसरे राज्य से कम आबादी वाला होने पर भी उच्च श्रेणी का हो सकता है। इस प्रकार जनसंख्या और आय के आधार पर किया हुआ वर्गीकरण भी ठीक नहीं है।

९—**प्राचीनता या वंश-प्रतिष्ठा**—राजपूताना आदि में कुछ राजा अपने खानदान की प्राचीनता के आधार पर, गर्व किया करते है। पर विचार करने की बात तो यह है कि उनके पूर्वजों ने राज्य की स्थापना किस प्रकार की थी। उदाहरण के लिए यदि "बीका जी ने मुलतान और दिल्ली के बीच आनेवाले व्यपारियों के काफिलों को कई बार लूट कर इतना धन इकट्ठा कर लिया कि इसी धन की मदद से उनके पास एक बड़ी भारी सेना तैयार हो गयी और इसी सेना की मदद से उन्होंने सम्वत १५४५ में बीकानेर नगर की नींव डाली"* तो क्या उनके उत्तराधिकारियों को प्राचीन वंश के आधार पर प्रतिष्ठा दी जानी उचित है!

कुछ राजाओं को ऊँचा पद इसलिए दिया जाता है कि उनके किसी पूर्वज ने बड़ा कष्ट सहा था, त्याग किया था और बड़े साहस का परिचय दिया था। उदाहरणवत् उदयपुर के राणा का विशेष आदर

*श्री अचलेश्वरप्रसाद जी शर्मा, अपने द्वारा सम्पादित 'प्रजासेवक' में।

इसलिए किया जाता है कि राणा प्रताप ने मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार नहीं की, और इस वंश की लड़की का शाही घराने से सम्बन्ध नहीं हुआ। इस प्रकार श्री० श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल ने लिखा है कि 'उत्पत्ति और बड़प्पन की दृष्टि से रियासतों को पाँच प्रकारों में बाँटा जा सकता है। सबसे पहले प्रकार की रियासतें राजपूताने के राजाओं की हैं, जिनका इतिहास सहस्रों वर्ष पुराना और वीरता की गौरव गाथाओं से परिपूर्ण है। दूसरे प्रकार की रियासतें उन सरदारों व गवर्नरों की हैं, जो मुगल साम्राज्य के विनाश के समय स्वतन्त्र बन बैठे। तीसरे प्रकार की रियासतें उन लोगों की हैं, जिन्होंने मुगल साम्राज्य का विनाश होने पर हिन्दुस्तान में जो अराजकता फैल गयी थी, उसका लाभ उठाकर अपनी रियासतें कायम कर लीं। चौथे प्रकार की रियासतें वे हैं, जिनको ईस्ट इंडिया कम्पनी ने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य का श्रीगणेश करते समय बनाया, जैसे मैसूर और कुछ, हद तक कशमीर। पाँचवें प्रकार की रियासतें उन लोगों की हैं, जो मुगल, मराठा, साम्राज्यों के अन्त होने पर राजा बन बैठे तथा महाराजा रणजीत सिंह के सिक्ख साम्राज्य से से बचने के लिए अंगरेजों की गोद में जा बैठे; यथा पटियाला, झीन्द, कपूरथला आदि।* इस सम्बन्ध में याद रहे कि कोई राज्य चिरकाल तक प्राचीनता के आधार पर उच्च पद का अधिकारी नहीं बना रह सकता। व्यक्तियों की भांति राज्यों को भी स्वावलम्बी होकर अपने ही गुणों के कारण सम्मान की आशा करनी चाहिए।

आकार-प्रकार, भूगोल, इतिहास, पद या रुतबा, प्राचीनता और भारत-सरकार के सम्बन्ध आदि अलग अलग होने के कारण भारतवर्ष के देशी राज्यों के वर्गीकरण का विषय बहुत जटिल है। किसी भी प्रकार से वर्गीकरण किया जाय, वह संतोषप्रद नहीं हो सकता। उसमें

---

*'अर्जुन'—रियासत अंक

कुछ-न-कुछ कमी रह ही जाती है। तो भी अपने-अपने दृष्टिकोण मे सभी का उपयोग है।

१०—वैधानिक स्थिति—जिस राज्य की वैधानिक, राजनीतिक, या नागरिक स्थिति दूसरे राज्यों की अपेक्षा जितनी अच्छी हैं, उतना ही हम उसे उच्च श्रेणी में रखना उचित समझते हैं। वैधानिक दृष्टि से राज्यों के दो भेद हैं—वैध शासनवाले और अवैध शासन वाले। वैध शासन में निर्धारित कायदे कानून के अनुसार राजप्रबन्ध होता है। राजा की शक्ति मर्यादित होती है, वह मनमाना कार्य नहीं कर सकता। इसके विपरीत, अवैध शासन में राजा को शासन अधिकार पूर्णरूप से रहता है, उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वह जैसा चाहता है, करता है; उसपर कानून का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, अथवा यों कह सकते हैं कि उसकी इच्छा ही कानून है। 'राजा करे सो न्याय'।

आजकल लोकतंत्र का युग है, और राज्य को निर्माण करनेवाला मुख्य अग जनता होती है इसलिए राज्यों का वर्गीकरण जनता की दशा के विचार से करना अपेक्षाकृत ठीक होगा।

———

सातवाँ अध्याय

संधियां

जिन्हें संधियाँ कहा जाता है, वे कोई बराबर वालों के सुलहनामे नहीं हैं। वे तो दान दी हुई चीजें हैं, जिनमें दाता ने अपनी इच्छा के अनुसार शर्तें और पाबन्दियाँ लगादी हैं। ये ज्यादहतर या सारी-की-सारी सार्वभौम सत्ता को मजबूत बनाने की खातिर दी हुई रियायतें हैं।

—म० गाँधी

संधि-राज्य सिर्फ ४० हैं—पिछले अध्यायों में संधियों का

उल्लेख हुआ। आगे भी इनकी चर्चा का प्रसंग आयेगा। इसलिए इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करना आवश्यक है। संधि दो ऐसी शक्तियों में होती हैं, जो एक-दूसरे का स्वतंत्र अस्तित्व मानती हैं, चाहे दोनों का दर्जा बराबरी का हो या एक का दूसरे से कुछ नीचा। सन्धि करने वाले दोनों राज्यों में प्रत्येक का कुछ उत्तरदायित्व होता है, जिसका संधि की शर्तों में उल्लेख रहता है। सन् १७५७ से १८१३ तक, जब कि भारतवर्ष में अंगरेजी राज्य की जड़ नहीं जमी थी, कम्पनी की देशी राज्यों से संधियाँ बराबरी या मित्रता के नाते हुईं। किन्तु ऐसे राज्यों की संख्या कुल मिला कर केवल १२ है। पश्चात् कम्पनी की स्थिति दृढ़ हो जाने पर उसने जो भी संधियाँ कीं, वे देशी राज्यों की थोड़ी-बहुत अधीनता की ही सूचक रहीं। देशी राज्यों में संधि-राज्य सिर्फ ४० ही हैं।

संधि-राज्य और उनके साथ संधि होने का समय इस प्रकार है :— अलवर (१८०३), बहावलपुर (१८३८), भरतपुर (१८ ५), बांसवाड़ा (१८१८) बड़ौदा (१८०५), भोपाल (१८१८), बीकानेर (१८०८), बून्दी (१८१८), कोचीन (१८०६), कच्छ (१८१६), दतिया (१८१८), देवास बड़ी और छोटी (१८१८), धार (१८१६), धौलपुर, (१८०६), ग्वालियर (१८०४ और १८४४), हैदराबाद, (१८०० और १८५३), इन्दौर (१८०५ और १८१८), जयपुर (१८१८), जैसलमेर (१८१८), कश्मीर (१८४६), झालावाड़ (१८३८), जोधपुर (१८१८), कलात (१८७६), करौली (१८१७), खैरपुर (१८३८), किशनगढ़ (१८१८), कोल्हापुर (१८१२), कोटा (१८१७), प्रतापगढ़ (१८१८), मैसूर (१८८१ और १६१३), ओरछा (१८१२), रामपुर (१७६४) रीवा (१८१२), समथर (१८१७), सावंतवाडी (१८१६), सिक्कम (१८१४), सिरोही (१८२३) ट्रावंकोर (१८०५) टोंक (१८१७), उदयपुर (१८१८)।

इन्हें छोड़कर अन्य बड़े-बड़े राज्यों को सरकार ने अपनी अधीनता में ले लिया, उनकी रक्षा का वचन देने के लिए सनदें लिख दीं। इन

राज्यों में प्रभुत्व तो सर्वोच्च सत्ता का स्थापित हुआ; हाँ, कुछ शासनाधिकार नरेशों के भी बने रहे। बहुतसे रजवाड़ों ने सरकार की अधीनता स्वीकार करते हुए इकरारनामें लिख दिये हैं। इन रजवाड़ों के सरदार आदि अपने उत्तरदायित्व से, ब्रिटिश सरकार से बँधे हैं।

संधियों के भेद—विविध देशी राज्यों से समय-समय पर अलग-अलग तरह की सन्धियाँ की गयी हैं, उनसे राजाओं की बदलती हुई और धीरे-धीरे गिरती हुई वैधानिक स्थिति की अच्छी जानकारी होती है। पहले कम्पनी को जैसे-भी-बने अपनी हुकूमत जमाने की फिक्र थी; जिस राज्य में जैसी शर्तों से काम चला, वहाँ उसने वैसी शर्तें स्वीकार करके राजा से सन्धि कर ली। पीछे जैसे-जैसे उसका बल बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी सन्धियों में प्रभुत्व की भावना बढ़ती गयी। राजा लोग कमजोर होकर अपने अधिकार उसे देते गये और उसकी अधीनता स्वीकार करते गये। इस प्रकार विविध सन्धियों की धाराएँ देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक ही है। तथापि स्थूल रूप से संधियों के तीन भेद हैं—(१) मित्रता की संधि, (२) आश्रित पार्थक्य की सधि, (३) आश्रित सहकारिता की संधि। इनमें से प्रत्येक प्रकार की संधि का एक-एक उदाहरण संक्षेप में आगे दिया जाता है।

मित्रता की सधि—ब्रिटिश सरकार और श्री० यशवन्तराव होल्कर में, सन् १८०५ में मित्रता और शान्ति की सन्धि हुई। उसकी कुछ धाराएँ ये हैं—(क) ब्रिटिश सरकार यशवन्तराव होल्कर के विरुद्ध लड़ाई बन्द करने और उनको अब से कम्पनी का मित्र मानने का वचन देती है। यशवन्तराव होल्कर भी यह वचन देते हैं कि वह अब ब्रिटिश सरकार और उनके मित्रों के विरुद्ध लड़ाई बन्द कर देंगे और कोई ऐसा कार्य न करेंगे, जिससे ब्रिटिश सरकार और उसके मित्रों को हानि हो। (ख) यशवन्तराव होल्कर अपने उन सब दावों या स्वत्वों को छोड़ते हैं, जो ब्रिटिश सरकार या उसके मित्रों पर हों। (ग] यशवन्तराव

होल्कर यह बचन देते हैं, कि ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के बिना, किसी योरोपियन को नौकर न रखेंगे, चाहे वह ब्रिटिश प्रजा हो या न हो। (घ) यशवन्तराव होल्कर यह बचन देते हैं कि वह सर्जीराव घाटकिया को अपने यहाँ नौकर न रखेंगे और न उसे अपनी सभा में रखेंगे, क्योंकि उक्त व्यक्ति ब्रिटिश सरकार का शत्रु घोषित हो चुका है।

आश्रित पार्थक्य संधि—ब्रिटिश सरकार और ओरछा में सन् १८१२ में आश्रित पार्थक्य नीति के अनुसार संधि हुई, उसमें कहा गया कि ओरछा के राजा महेन्द्र बिक्रमादित्य बृटिश सरकार के प्रबल आश्रय में आना चाहते हैं, उनकी प्रार्थना स्वीकार की जाती है। (क) उन्होंने बृटिश सरकार के प्रति आज्ञापालन और अनुराग का भाव प्रकट किया है, अतः वह अब से उनके मित्रों की श्रेणी में लिये जाते हैं। तदनुसार उक्त राजा उसके मित्रों को अपना मित्र और उसके शत्रुओं को अपना शत्रु समझेंगे, और किसी ऐसे राजा या शासक को न छेड़ेंगे जो बृटिश सरकार का मित्र हो। वे बृटिश सरकार विरोधी व्यक्तियों या उनके परिवार वालों को अपना शत्रु मानते हुए आश्रय न देंगे और न उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखेंगे, वरन् उन्हें पकड़ कर बृटिश सरकार के कर्मचारियों के सुपुर्द करेंगे। (ख) जो राज्य राजा साहब को अपने पूर्वजों से मिला है वह सदा उनका ही रहेगा और उनको या उनके बंशजों और उत्तराधिकारियों को इनके भोगने में बृटिश सरकार कभी न छेड़ेगी, और न किसी प्रकार का कर लेगी। बृटिश सरकार इस राज्य की बिदेशी शत्रुओं से रक्षा भी करेगी। (ग) यदि ओरछा के राजा को बृटिश सरकार के मित्र-राज्यों में से किसी पर कोई दावा या शिकायत होगी तो वह स्वतः उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न करके, बृटिश सरकार को सूचना देंगे, और सदा उसके निर्णय को मानेंगे। बृटिश सरकार भी अपने मित्रों और आश्रितों को ओरछा के राजा के विरुद्ध कार्यवाही करने से रोकेगी और उनके झगड़ों में स्वयं मध्यस्थ बन कर न्याय के

सिद्धान्तों के अनुसार विचार करेगी। (घ) बृटिश सरकार की स्वीकृति बिना राजा अपने यहाँ किसी भी प्रकार के योरोपियन को नौकर न रखेंगे।

आश्रित सहकारिता की संधि—मैसूर का राज्य सन् १८३१ ई० से बृटिश सरकार के प्रबन्ध में था, यह १८८१ में यहाँ के राजा चामराजेन्द्र वाडियर को लौटाया गया तो आश्रित सहकारिता की नीति के अनुसार सन्धि हुई। इसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं:—(क) क्योंकि बृटिश सरकार ने इस राज्य की रक्षा का भार लिया है, उसे प्रतिवर्ष (मैसूर राज्य के कोष से) पैंतीस लाख सरकारी रुपये दिये जायँगे। (ख) चामराजेन्द्र वाडियर को गद्दी मिलते समय यहाँ जो शासनपद्धति प्रचलित हो, उसमें कौंसिलयुक्त गवर्नरजनरल की स्वीकृति बिना, कोई विशेष परिवर्तन न किया जायगा। (ग) कोष-प्रबन्ध, कर लगाना, न्याय-प्रबन्ध, कृषि उद्योग या व्यापार का प्रोत्साहन, राजा साहब के हित, प्रजा के सुख, तथा राजा और सरकार के सम्बन्ध के विषय में कौंसिलयुक्त गवर्नरजनरल जो परामर्श देंगे, उसका पालन किया जायगा, (घ) यदि किसी समय महाराजा मैसूर इनमें से किसी नियम का पालन न करें या भग करे तो कौंसिलयुक्त गवर्नरजनरल को अधिकार होगा कि वह उक्त प्रदेश को बिटिश शासन में मिलालें या अन्य आवश्यक प्रबन्ध करें, जिससे राजप्रबन्ध जनहितकारी हो तथा इस क्षेत्र में ब्रिटिश हितों और अधिकारों की सुरक्षा हो।

संधियों आदि के विषय में ली वार्नर का मत—अंगरेजों की, देशी राज्यों सम्बन्धी नीति पर प्रसिद्ध लेखक ली वार्नर की पुस्तक* में बताया गया है कि जिन श्रोतों से अंगरेजों का देशी राज्यों से सम्बन्ध बनाए रखनेवाले नियम या सिद्धान्त तय किये जा सकते हैं, वे तीन प्रकार

* The Native States of India.

के हैं—(१) वे संधियाँ, समझौते या सनदें जो देशी राज्यों से हुई हैं। (२) वे फैसले जो सर्वोच्च सत्ता ने समय-समय पर देशी राज्यों के उत्तराधिकार, हस्तक्षेप या उनके शासकों के विवाद के मामलों में किये हैं। (३) रिवाज या व्यवहार जो समाज के विकास के साथ-साथ बदलता रहता है, और जो उनके सम्पर्क के समय अमल में आता है। रिवाज का महत्व बहुत अधिक होता है। ली वार्नर का मत है कि देशी राज्यों से जो संधियाँ हुई हैं, उनका सामूहिक अर्थ लिया जाना चाहिए। सर्वोच्च सत्ता ने एक राज्य के साथ व्यवहार करते हुए अपनी सैनिक नीति घोषित की है, दूसरे में मानवता के नियम के सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व बतलाया है, अन्य राज्यों में अपने सहयोग या हस्तक्षेप अधिकार सम्बन्धी स्वत्व की सूचना दी है। (केवल एक उदाहरण में, अर्थात् मैसूर को १८८१ में लार्ड रिपन द्वारा वापिस दिये जाने के सरकारी कागज़ात में सब प्रकार के दायित्व इकट्ठे संग्रह करने का प्रयत्न किया गया है)। अधिकांश राज्य तो ऐसे ही हैं, जिनके साथ कोई संधियाँ ही नहीं हुई हैं। ली वार्नर ने साफ-साफ कहा है कि जहाँ कुशासन* हो वहाँ हस्तक्षेप का अधिकार या कर्तव्य पैदा हो जाता है, भले ही संधि-पत्रों में कोई वास्ता न रखने या स्वच्छन्द शासन रहने की प्रतिज्ञा की गयी हो।

संधियाँ सारहीन और अनुचित थीं—पहले बताया जा चुका है कि संधियाँ सिर्फ ४० राज्यों से हुई थीं। विचार करने से इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि ये सर्वथा सारहीन और अनुचित थीं। यह ठीक ही कहा गया था कि 'न तो इनके मूल में कोई विधान है और न इनके सम्बंध में कुछ विवाद खड़ा होने पर उसका निर्णय करने के लिए कोई न्यायालय ही है। ये संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय विधान के क्षेत्र में भी नहीं

*ब्रिटिश सरकार किस राज्य के कुशासन पर ध्यान देगी, अथवा वह कुशासन किसे कहती है, यह बहुत रहस्यमय रहा है।

आतीं। एक या दोनों पक्षों की इच्छानुसार इनका अर्थ या प्रयोग किया जाता है। असल में ये संधि-पत्र न होकर एक तरह के नियम-पत्र हैं, जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने अपना सम्बन्ध बनाये रखने का निश्चय किया था। बाद में रीति-रिवाजों से इनमें बहुत परिवर्तन हो गया। कई अंश बेकाम हो गये। कुछ नई बातें खड़ी हो गयीं, जिनका निर्णय सरकार के राजनीतिक विभाग ने अपनी इच्छानुसार किया। इन निर्णयों का बल संधियों से भी बढ़ गया। सर्वोच्च सत्ता का क्षेत्र संधियों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। संधियों की मूल बातें उन नियमों में बदल गयी हैं, जो सभी देशी रियासतों के साथ सामान्य रूप से वर्ते जाते हैं।' यह सब होते हुए भी राजा लोग भोलीभाली जनता को डराने या दबाने के लिए इन संधियों की बात कहते रहे और सरकार लोकहित सम्बन्धी अपना कर्तव्य पालन न करते समय इनका बहाना करती रही। लोकनेताओं और सार्वजनिक संस्थाओं ने बारबार इनका विरोध किया, तो भी सन् १९४७ तक ये रद्द नहीं की गयीं।

ब्रिटिश सरकार की संधियाँ समाप्त—जुलाई १९४७ में ब्रिटिश पार्लिमेंट में भारतीय स्वाधीनता बिल पास किया गया। उसमें रियासतों के प्रसङ्ग में कहा गया है कि १५ अगस्त १९४७ से रियासतों पर से ब्रिटिश सरकार की सारी सत्ता समाप्त हो जायँगी तथा उनसे की हुई संधियाँ भी समाप्त हो जायगी। केवल तटकर, यातायात, डाक और तार तथा ऐसे ही सम्बन्धित समझौते रहेंगे, जब तक 'कि उन्हें औपनिवेशिक राज्य (भारतीय सङ्घ और पाकिस्तान) या सम्बंधित रियासतें भंग न कर दें। अब तो रियासतों की इन औपनिवेशिक राज्यों से नई सन्धियाँ होंगी।

आठवाँ अध्याय

रियासती विभाग

भारत-सरकार के रियासती विभाग की नई व्यवस्था सन् १९४७ से हुई है। उससे पहले उसका यह नाम नहीं था, उसे राजनीतिक विभाग कहते थे। वर्तमान व्यवस्था का विचार करने से पहले राजनीतिक विभाग के सम्बन्ध में आवश्यक बातें आगे दी जाती हैं।

विदेश विभाग और राजनीतिक विभाग—सन् १८५८ में भारत-सरकार का एक विभाग 'विदेश विभाग' के नाम से बनाया गया। देशी राज्यों के नियन्त्रण की व्यवस्था करनेवाले अधिकारी—पोलिटिकल एजन्ट, रेजीडेन्ट आदि—अब विदेश-सेक्रेटरी के अधीन हो गये, जो वायसराय के प्रति उत्तरदायी था। सन् १९१५ में योरोपीय महायुद्ध के कारण शासन-कार्य बढ़ जाने पर, देशी राज्यों सम्बन्धी काम संभालने के लिए एक राजनीतिक सेक्रेटरी नियुक्त किया गया। विदेश सेक्रेटरी का काम खासकर बाहरी विषयों तक परिमित रह गया। भूटान, सिक्कम, बलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा एजन्सी के राज्यों का सम्बन्ध विदेश विभाग से ही रहा। शेष सब रियासतों की निगरानी राजनीतिक विभाग करने लगा।

राजनीतिक विभाग के अधिकारी—राजनीतिक विभाग का का काम वायसराय के अधीन पोलिटिकल सेक्रेटरी करता था। पोलिटिकल सेक्रेटरी के अधीन 'एजन्ट टु दि गवर्नर-जनरल' या ए. जी. जी., रेजीडेन्ट और पोलिटिकल एजन्ट आदि विविध अधिकारी रहते थे। ए. जी. जी. का सम्बन्ध सीधे वायसराय से होता था। कशमीर, हैदराबाद, गवालियर और मैसूर का एक-एक रेजीडेन्ट खासकर इन्हीं राज्यों सम्बन्धी काम के लिए था। दूसरे

रेजीडेन्ट कई-कई राज्यों या किसी राज्य-समूह सम्बन्धी काम करते थे। इनके अधीन दो-तीन पोलिटिकल एजन्ट या छोटे रेजीडेन्ट होते थे, जो बहुत से छोटे-छोटे राज्यों सम्बन्धी काम निपटाते थे।

राजनीतिक अफसरों के अधिकार और व्यवहार—राजनीतिक अफसरों के अधिकार साफ तौर से निर्धारित नहीं थे। वे चाहते तो राजाओं के सगाई-विवाह जैसे निजी मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकते थे। और, उनकी इच्छा न हुई तो हत्या, दमन या शोषण जैसे गम्भीर विषय की ओर भी उदासीन रह सकते थे। उनका व्यवहार बहुत कुछ राज्य के महत्व तथा राजा के दबंग या कमजोर होने पर निर्भर होता था। हाँ; उन्हें साम्राज्य-सरकार और वायसराय के आदेशों का ध्यान रखना होता था। सख्त वायसराय राजाओं पर दबाव डालना भी ठीक समझता था, और नर्म प्रकृति वाला वायसराय कुछ उपदेश या सलाह देकर संतोष कर लेता था। राजनीतिक विभाग का काम गुप्त रूप से, गुपचुप होता रहता था। आतंक और आशंका का वातावरण बना रहता था। समय समय पर तरह-तरह की कानाफूसी होती रहती थी, कौन जाने, कब कौनसी आशंका पूरी हो जाय!

राजनीतिक विभाग के स्थानीय अधिकारी देशी राज्यों की भीतरी घटनाओं का, यहाँ तक कि राजा के पास रहनेवाले निजी कर्मचारियों और राजमहलों की बातों का भी ज्ञान रखते थे, और उच्च अधिकारियों को राजा के साधन, व्यवहार और राजप्रबन्ध आदि के विषय में सूचित करते रहते थे। राजाओं और राजनीतिक विभाग में जो पत्र-व्यवहार होता था, वह इनके ही द्वारा होता था। जब कोई राजा अपने स्वास्थ्य-सुधार आदि के कारण अपनी रियासत से बाहर चला जाता था तो पोलिटिकल अफसरों का हस्तक्षेप खूब ही बढ़ जाता था। राजाओं की नाबालगी तथा रिजेन्सी के समय तो शासन में उनका बहुत ही हाथ रहता था।

उच्च अधिकारी बहुधा उसी सामग्री के आधार पर काम करते थे जो उनके अधीन अधिकारी या पोलिटिकल अफसर उनके सामने तैयार करके रख देते थे। इस प्रकार राजनीतिक अफसर जिस मामले को जैसा रूप देना चाहते थे, प्रायः वैसा रूप दे सकते थे, और दे देते थे। इससे इन कर्मचारियों का महत्व स्पष्ट था। राजा इस रहस्य को समझते थे, इसलिए वे यथा-सम्भव इन्हें खुश करने की कोशिश में रहते थे।

रियासतों का सम्बन्ध प्रान्तीय सरकारों से हटाया गया— मांट-फोर्ड रिपोर्ट के समय (सन् १९१८) स्थिति यह थी कि चार बड़े-बड़े और एक छोटे राज्य का अपने-अपने रेजीडेन्ट द्वारा भारत-सरकार से सीधा सम्बन्ध था, मध्य भारत के लगभग १५०, राजपूताने के लगभग २० और बलोचिस्तान के दो राज्य ए. जी. जी. के अधीन थे, और शेष सब रियासतों का सम्बन्ध प्रान्तीय सरकारों से था। उस रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार रियासतों का सम्बन्ध प्रान्तीय सरकारों से हटा कर केन्द्रीय सरकार से किया जाता रहा। इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखने की है कि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ होते देख कर अधिकारियों की यह इच्छा हुई कि देशी राज्यों को, जनता के प्रति उत्तरदायी सरकारों के नियंत्रण से, सुरक्षित रखा जाय। इस प्रकार उनको कौंसिलयुक्त गवर्नरजनरल (भारत-सरकार) के नियंत्रण में न रहने देकर उनका अकेले वायसराय (सम्राट्-प्रतिनिधि) से सम्बन्ध करने का विचार होने लगा। बटलर कमेटी (१९२८) ने भी ऐसी ही सिफारिश की। और, सन् १९३५ के भारतीय शासन-विधान में इस प्रकार की स्पष्ट व्यवस्था की गयी। निदान, सिर्फ आसाम की रियासतों को छोड़कर अन्य सब राज्यों का सम्बन्ध प्रान्तीय शासकों से न होकर सम्राट् प्रतिनिधि (वायसराय) से हो गया।

एजन्सी और रेजीडेन्सियाँ—विविध एजंसियों और रेजीडेंसियों का क्षेत्र समय-समय पर बदलता रहा है ; उनके अन्तर्गत रियासतों की संख्या को ब्रिटिश सरकार घटाती बढ़ाती रही है। पिछले (सन् १९४० के) सरकारी प्रकाशन के अनुसार रियासतों का विभाजन इस प्रकार था :—

(क) राजनीतिक विभाग से सम्बन्धित या उसके अधीन

आसाम	१६
कशमीर	३
कोल्हापुर दक्षिण राज्य एजन्सी	१८
गवालियर रेजीडेन्सी	४
पश्चिम भारत राज्य एजन्सी	२८५
पूर्वी राज्य एजन्सी	४२
पंजाब राज्य एजन्सी	३६
बड़ोदा और गुजरात राज्य एजन्सी	८२
मदरास राज्य	५
मध्य भारत	५८
मैसूर	१
राजपूताना	२३
हैदराबाद	१
योग	५७४

(ख) विदेश विभाग से सम्बन्धित या उसके अधीन

पश्चिमोत्तर सीमा एजन्सी	५
बलोजिस्तान एजन्सी	३
भूटान	१
सिक्कम	१
योग	१०
कुल योग	५८४

राजनीतिक विभाग सन् १९४६ में—राजनीतिक विभाग देशी राज्यों के मामलों में बहुत ही निरंकुश रहा। इसने जनता की प्रगति में तरह-तरह की बाधाएँ उपस्थित कीं। इसके पदाधिकारी भारतवर्ष के एक-तिहाई हिस्से पर साम्राज्यवादी पंजा जमाये रखने के विशेष रूप से जिम्मेवर रहे। सन् १९४६ में भारतवर्ष में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बन जाने पर विदेश विभाग तो उसे सौंप दिया गया था; पर राजनीतिक विभाग वायसराय या सम्राट्-प्रतिनिधि के ही अधीन रहा, यह राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत नहीं हुआ। इस का और विदेश विभाग का वैधानिक सम्बन्ध इतना ही रहा कि वायसराय गवर्नर-जनरल भी था और सम्राट्-प्रतिनिधि भी। ब्रिटिश भारत आजादी के दरवाजे पर है, इस बात को जानते हुए भी यह विभाग अपने पुराने ढर्रे पर चलता रहा, और राजाओं को जन-आन्दोलन दबाने तथा प्रजा-मंडलों पर प्रतिबन्ध लगाने में सहायता और प्रोत्साहन देता रहा। इसलिए लोक-नेताओं और सार्वजनिक संस्थाओं ने इस विभाग की नीति, संगठन और कार्य का बारबार विरोध किया।

नई व्यवस्था; रियासती विभाग—अंगरेजों के भारत छोड़ने के परिणाम-स्वरूप रियासतों की रेजीडेन्सियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो जायंगी। अब रियासतों की भारत-सरकार से रेजीडेन्टों के ज़रिए बातचीत न होगी, सीधे प्रान्तीय सरकारों या रियासती विभाग द्वारा सम्बन्ध रहेगा। रियासती विभाग राजनीतिक विभाग का नया रूप है। यह केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत उसके गृह-मंत्री सरदार पटेल के सुपुर्द है। यह विभाग एक नियमावली बना रहा है, जिसमें भारतीय संघ तथा देशी राज्यों के बीच के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण किया जायगा तथा दोनों के बीच के सम्बन्ध-संचालन के नियम होंगे। इसी प्रकार की व्यवस्था पाकिस्तान राज्य में होगी।

— — —

नवाँ अध्याय

राजा

प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। राजा को प्रिय लगनेवाली बात राजा के लिए हितकारी नहीं है, प्रजा को प्रिय लगनेवाली बात ही राजा के लिए हितकारी है।

आचार्य कौटिल्य।

एकतंत्री शासन—देशी राज्यों में एकतंत्री शासनपद्धति होती है; शासन सम्बन्धी प्रमुख अधिकार राजा को होते हैं। इसलिए राजा के व्यक्तित्व का बड़ा महत्व होता है। यदि वह सुयोग्य हो और अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करता रहे तो राज्य की बहुत उन्नति कर सकता है। परन्तु अगर उसकी शिक्षा और संस्कार अच्छे न हों तो शासन-प्रबन्ध बिगड़ने की आशंका रहती है। हाँ, जब राजतंत्र वैध होता है, अर्थात् राजा के अधिकार शासन-विधान द्वारा मर्यादित होते है या राजा पर लोकसभा का नियंत्रण रहता है, तो राजा के अयोग्य होने का नतीजा बहुत बुरा नहीं होने पाता। पर अनियंत्रित राजा चाहे संयोग से अच्छा भी हो तो भी यह दोष तो रहता ही है कि जनता का अपने शासन में कोई भाग न होने से उसमें न राजनीतिक जागृति होती है, और न राजप्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता या स्वावलम्बन का भाव पैदा होता है। सर्वसाधारण को अपनी शक्तियों के विकास का अवसर नहीं मिलता। फिर, राजा का पद प्रायः पैत्रिक या वंशानुगत होता है, और एक राजा चाहे जितना योग्य और प्रजा-हितैषी हो, यह आवश्यक नहीं कि उसका उत्तराधिकारी भी वैसा ही गुणवान होगा। अनेक बार सुयोग्य नरेशों के उत्तराधिकारी बहुत ही अयोग्य हुए हैं, और होते हैं।

राजा का रहनसहन और शिक्षा—अब हम इस बात का विचार करें कि आजकल देशी राज्यों में साधारणतया राजा कैसा होता है। उसका रहनसहन, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा उसके भावी उत्तर-दायित्व को पूरा करने में कहाँ तक सहायक होती हैं, एवं उनमें क्या दोष या त्रुटियाँ रह जाती है। प्रायः राजकुमार का बचपन में बहुत लाड़चाव और ऐश्वर्य में पालन होता है, उसके मनोरञ्जन और शौक के सब साधन उसे सुलभ होते हैं। उसे किसी प्रकार का शारीरिक या ानसिक परिश्रम करने का अभ्यास नहीं कराया जाता। उसका जीवन आराम तलबी में बीतता है। उसे अपने गुणों के विकास की आवश्यकता नहीं रहती। उसकी साधारण बातों की भी बहुत होती है। उसके चारों ओर ऐसे व्यक्ति रहते हैं, जो जैसे-भी-से प्रसन्न करने को फिक्र में रहते हैं, जिससे वे उसके पिता की कृपा-दृष्टि प्राप्त करें और अपना स्वार्थ सिद्ध कर ।

राजपुत्र ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, वह अपने जन्मजात पद और गौरव का विचार करने लगता है। जो राजपुत्र अपने सब भाइयों में बड़ा होता है, वह तो जल्दी ही अपने आप को भावी राजा मानकर चलता है। दूसरे आदमी भी उसका बहुधा अनावश्यक और अनुचित लिहाज करते हैं। इसलिए उसके स्वभाव में अहंकार, अभिमान, आडम्बर-प्रियता, अविनय आदि सहज ही आ जाता है। युवराज की शिक्षा भी कैसी होती है! उसके अध्यापक उसके पिता के आज्ञाकारी सेवक तो होते ही हैं, बहुधा उनमें अपनी हीनता या छोटेपन का भाव होता है। वे इस बात को बराबर ध्यान में रखते हैं कि जल्दी या देर में वह समय आनेवाला है जब कि वह युवराज गद्दी का मालिक होगा, और हम या हमारा परिवार इसके आश्रित होगा। इसलिए वे, जहाँ तक बनता है, उसके शिक्षण में

उसकी योग्यता बढ़ाने की अपेक्षा उसकी इच्छाएँ पूरी करने का ही विचार विशेष करते हैं।

ब्रिटिश सरकार ने युवराजों की शिक्षा के लिए मेयो कालिज (अजमेर), डेली कालिज (इन्दौर), राजकुमार कालिज (राजकोट), एचिसन कालिज लाहौर, आदि कुछ विशेष शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था की। उनकी कार्यपद्धति का नतीजा खासकर यह हुआ कि युवराजों ने खूब अमीरी ढंग से रहना तथा अंगरेज़ों की नकल करना सीखा। उन्होंने अँगरेज़ी खेल, शिकार, और मनोविनोद में समय बिताया। वे जनता के सम्पर्क से दूर और उसकी आवश्यकताओं या हिताहित से अपरिचित रहे और कुछ विचित्र से विचारों वाले हो गये। भारत-सरकार के राजनीतिक विभाग के एक समय के उच्च पदाधिकारी और हैदराबाद, मैसूर एवं बड़ौदा जैसी बड़ी-बड़ी रियासतों के रेज़ीडेन्ट-पद पर अनुभव-प्राप्त सर विलियम बार्टन का कथन है कि ऐकेडेमिक (साहित्यिक) दृष्टिकोण से राजकुमारों की शिक्षा के परिणाम हँसी दिलानेवाले रह जाते हैं। मिसाल के तौर पर राजकुमार कालिज के एक विद्यार्थी से 'पहाड़' पर निबंध लिखने को कहा गया तो उसने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—"पहाड़ वाँछनीय चीज़ होते हैं, वे साधारणतया जंगलों से ढके रहते हैं। जंगलों का अर्थ है शेर। शेर वायसराय को आकर्षित करते हैं। सड़कों का पुनः निर्माण होता है। राजा जी० सी० आई० ई० की उपाधि प्राप्त करता है और राज्य को लाभ होता है।" दूसरा नमूना लीजिए। एक राजकुमार विद्यार्थी की जाँच के लिए उससे पूछा गया कि वह अपने राज्य को ऋणमुक्त कैसे करेगा, तो उसने जवाब दिया कि "मैं अपने मंत्री का विश्वास प्राप्त कर लूँगा, और उससे सब बात जान लेने पर मैं उसे उस समय तक के लिए कैद कर दूँगा, जब तक कि वह मेरी नाबालगी में सञ्चित सारे धन को उगल न दे।"

इस प्रकार की शिक्षा और संस्कार लिए हुए होता है, वह आदमी जो यथा-समय सरकार के प्रतिनिधि द्वारा गद्दी पर बैठाया जाता रहा है। वह यह तो पहले से ही जानता है कि वह सरकार के आश्रित है। गद्दी पर बैठाये जाने की क्रिया से वह अपनी अधीनता को और भी अच्छी तरह जान लेता है। नदान, उसके गद्दी पर बैठने से किसी भी विचार-शील सज्जन के मन में, 'हितोपदेश' पुस्तक के रचयिता के ये भाव सहज ही आ सकते हैं कि "रूप और यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अविवेकता में से एक एक भी अनर्थकारी होती हैं, जहाँ ये चारों इकट्ठी हो जायँ वहाँ क्या होगा !"

समय और धन की फ़ज़ूलखर्ची—राजा साहब को अपने समय, शक्ति और द्रव्य पर पूरा अधिकार होता है। वे चाहे जब तक सोते या आराम करते रहते हैं, जैसा चाहें भोजन वस्त्र, अलङ्कार आभूषण आदि का उपभोग करते हैं। अपनी रुचि के अनुसार महल बनवाते हैं या उनमें परिवर्तन कराते हैं। कितने ही राज्यों में लाखों रुपये की लागत के बड़े-बड़े बाग बगीचे आदि होने पर भी प्रायः नया निर्माण होता रहता है, कारण, नये राजा साहब को कोई नया डिजाइन पसन्द है।

किसी राज्य की जितनी भी आय होती है, उस पर प्रायः राजा का पूर्ण अधिकार होता है। उसपर व्यवस्थापक सभा या नागरिकों का विशेष नियंत्रण नहीं होता। कितने ही बड़े-बड़े राज्यों में भी आय-व्यय का हिसाब प्रकाशित नहीं होता। इस प्रकार किसी को इस बात के निश्चित अंक नहीं मिलते कि किस मद में कितना खर्च किया गया। यदि रिपोर्ट छपती भी है, तो वह नागरिकों की भाषा में न होकर प्रायः अंगरेजी में होती है, सर्वसाधारण को वह बहुधा कीमत देने पर भी नहीं मिलती। फिर, रिपोर्ट में महलों या शाही बगीचों के बनाने या मरम्मत करने का खर्च सार्वजनिक निर्माण कार्य में, और राजकुमार की शिक्षा आदि का खर्च सार्वजनिक शिक्षा की मद में दिखाया जा सकता है।

जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा आदि की चिन्ता न कर शिकार, मनोरंजन, और विदेश-यात्रा में, तथा कुत्ते और मोटर आदि ख़रीदने में, एवं भारत-सरकार के अफसरों आदि का स्वागत-सत्कार करने में बेहद धन खर्च कर दिया जाता है। निदान, राजा राज्य की आय का खासा हिस्सा अपनी इच्छानुसार खर्च करते हैं। यदि उनकी स्वयं अपने लिए या राजपरिवार के वास्ते ली जानेवाली रकम निर्धारित भी होती है तो प्रायः वह काफी अधिक होती है; उसमें सर्वसाधारण की आर्थिक स्थिति तथा आवश्यकताओं का यथेष्ट ध्यान नहीं रखा जाता। कुछ समय हुआ विविध राज्यों द्वारा प्रकाशित रिपोर्टों के आधार पर, श्री चूडगर जी ने राजाओं के व्यक्तिगत तथा महलों पर होनेवाले खर्च का उनकी कुल आमदनी से अनुपात इस प्रकार बतलाया था;—कश्मीर २०, बीकानेर २०, इन्दौर १७, अलवर २५, पटियाला २५, कपूरथला २५, कच्छ २५ और नवानगर २५ प्रतिशत।

राजा और राजपरिवार का निजी खर्च परिमित रहना चाहिए। इस खर्च की रकम भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए एकसी नहीं ठहरायी जा सकती; राज्य की आय तथा राजपरिवार की मुख्य-मुख्य आवश्यकताओं का विचार रखते हुए ही उसका निश्चय किया जा सकता है। भारतीय परिस्थिति का विचार करते हुए म० गांधी का मत यह है कि 'दस से पन्द्रह लाख तक की आमदनी वाले राज्य के राजा और राजपरिवार का निजी खर्च राज्य की आमदनी के दसवें हिस्से से ज्यादा न हो; तीन लाख से अधिक निजी खर्च तो होना ही नहीं चाहिए। और, इस खर्च में महल, मोटर, अस्तबल, मेहमान आदि से सम्बन्धित खर्च भी शामिल होने चाहिएँ।

राजाओं की दिनचर्या—अब राजाओं की दिनचर्या का विचार करें। विलायत-यात्रा आदि के समय की बात तो छोड़ ही दें। प्रायः राजा

लोग अपनी राजधानी में रहते हुए भी राजकाज सँभालने का कष्ट कम उठाते हैं। कभी वे किसी दूसरे राजा आदि के यहाँ जाते हैं, कभी कुछ मेहमान उनके यहाँ आते हैं। खेल-कूद, हवाखोरी या या शिकार आदि तो नित्य का काम है ही, प्रत्येक राजा को कुछ अपना-अपना शौक या व्यसन भी रहता है। खाने-पीने, सोने, आराम करने व दिल बहलाने आदि की बातों को करते हुए अवकाश ही क्या मिलता है! और, हाँ, थोड़ा-बहुत समय राजा साहब को अपने यहाँ के रईसों, सरदारों जागीरदारों आदि से मिलने-भेंटने को भी तो चाहिए। निदान, राज्य-शासन के तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए न उन्हें समय मिलता है और न उन्हें समय निकालने की चिन्ता रहती है। सार्वसाधारण जनता के आदमियों से मिलकर उनकी परिस्थिति और आवश्यकताओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना राजा साहब की शान के खिलाफ होता है। बहुधा अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित कार्यकर्ताओं, लोक-नेताओं या विद्वानों को भी उनके दर्शन दुर्लभ होते हैं। उनके अधिकांश दर्शनाभिलाषियों को प्रधान मन्त्री आदि से ही भेंट करने की अनुमति मिल जाय तो गनीमत है। राजा साहब के पास उनके अधीन उच्च पदाधिकारियों तथा निजी नौकरों के अलावा ऐसे ही आदमियों को पहुँच होती है, जो खुशामदी हों, ठकुरसुहाती बातें करने में कुशल होने के अतिरिक्त, धनी-मानी हों और समय-समय पर ऐसे कार्यों में धन-व्यय करते हों, जिनसे उनकी खैरख्वाही और 'राजभक्ति' सूचित हो।

राजा साहब का दौरा—कभी-कभी राजा साहब अपना प्रजा-प्रेम दिखाने के लिए अपने राज्य में दौरा करने का भी कष्ट उठाते हैं। दौरा उन्हीं स्थानों में होता है, जहाँ प्रधान मंत्री आदि ठीक समझते हैं। दौरे के लिए पहले तैयारी की जाती है। उन रास्तों की सड़क कुछ ठीक करा दी जाती है, जहाँ से राजा साहब जानेवाले होते हैं। जहाँ राजा साहब का मुकाम होता है, वहाँ कौन-कौन व्यक्ति या संस्थाएँ

किस-किस प्रकार स्वागत-सत्कार करेंगे, कहाँ-कहाँ अभिनन्दन-पत्र दिया जायगा, उसमें क्या-क्या बातें कही जायँगी, और उनका क्या उत्तर देना ठीक होगा, इसका विचार यथा-सम्भव पहले ही कर लिया जाता है। निदान, सब काम निर्धारित योजना से अनुसार होता है, राजा साहब को स्वतंत्रता-पूर्वक जनता की शिकायतें सुनने का अवसर नहीं मिलता। यदि राजा साहब अपनी सहानुभूति दिखाने के लिए किसी से कुछ पूछते भी हैं, तो उस कृत्रिम वातावरण में बेचारे प्रजाजनों को यह हिम्मत नहीं होती कि कोई स्पष्ट सच्ची बात कहें। ऐसा करने से उन्हें आशंका होती है कि कहीं उन्हें पीछे अधिकारियों की नाराज़ी न सहनी पड़े। वे कह दिया करते हैं कि महाराज की छत्रछाया में सब सुखी हैं; किसी को कुछ कष्ट नहीं। लोगों की ऐसी बातों की विज्ञप्ति करके या अखबारों में छपा कर अधिकारी पीछे खूब यश लूटा करते हैं।

राजाओं का राजकार्य—जब राजा साहब राजधानी में होते हैं, और उनकी तबायत भी ठीक होती है (यह संयोग कम ही होता है), तो इच्छा होने पर घन्टे दो-घन्टे के लिए राजकीय कार्य देखने का कष्ट उठाते हैं। बहुत से कागज ऐसे रहते हैं, जिनपर नियमानुसार उनकी आज्ञा की आवश्यकता होती है। इनका मसविदा बना-बनाया तैयार रहता है, प्राइवेट सेक्रेटरी इन्हें एक-एक करके पेश करता है, और किसी-किसी के बारे में कुछ शब्द कहता रहता है, राजा साहब इन पर अपने हस्ताक्षर कर देते हैं। इसके बाद वे पूछ लेते हैं कि और कोई आवश्यक कार्य तो नहीं है। प्राइवेट सेक्रेटरी खूब होशियार होता है, वह सब पत्र-व्यवहार और लोगों की दरखासतें आदि देखकर, जिस मामले को चाहता है, या सुविधाजनक समझता है, उसकी ही चर्चा राजा साहब से करता है। शेष सब मामलों को अनावश्यक मानकर किसी को जाँच के लिए, किसी को दूसरे अधिकारियों की राय के लिए,

और किसी को किसी दूसरी बात के लिए स्थगित कर देता है। इन मामलों में 'दफ़्तर की काररवाई' होती है, फाइल बनती रहती है, किसी-किसी में महीनों का ही नहीं, वर्षों का भी समय लग जाता है, यहाँ तक कि बहुत से अर्जी या दरखास्त देनेवालों को कोई लाभ न होकर व्यर्थ की परेशानी होती है। इसका विचार करके अनेक आदमी किसी मामले को राजदरबार में उपस्थित करने की अपेक्षा चुपचाप कष्ट उठाना ही अच्छा समझते हैं। इस पर भी राजा और उनके खुशामदी अपने यहां के राजप्रबन्ध का अभिमान किया करते हैं।

विशेष वक्तव्य—हम यह भुला देना नहीं चाहते कि कुछ राजा बहुत प्रतिभाशाली और लोक हितैषी होते हैं, और कुछ राजा समय की गति को पहचानने लगे हैं, और स्वयं ही, अथवा लोक-नेताओं के प्रभाव से, अपने-अपने राज्य में क्रमशः सुधार करके उसे ऐसा बना रहे हैं कि नवयुग में उनका निभाव हो सके। परन्तु ये अभी कितने हैं!

आवश्यकता है कि राजा बननेवाले राजकुमारों को शुरू से ही ऐसे वातावरण में रखा जाय, और उनकी शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की जाय कि उनमें जनता के प्रति प्रेम और सेवा-भाव बढ़े और वे अपने आप को राज्य का स्वामी न मान कर उसका सेवक मानें।

राजा को वैधानिक शासक होना चाहिए। शासन-कार्य उसके नाम से तो हो परन्तु वास्तव में शासन मंत्रिमंडल करे, जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो। राजा को कानून बनाने या न्याय करने का भी अधिकार न रहे; इन कामों को व्यवस्थापक सभा और न्यायाधीश करें। इनके सम्बन्ध में क्रमशः आगे लिखा जायगा।

———

दसवाँ अध्याय

मंत्री और राजकर्मचारी

दीवान और मंत्री—पिछले अध्याय में राजा के सम्बन्ध में विचार किया गया। राजतंत्र में वह प्रमुख होता है, तो भी शासन-कार्य में छोटे-बड़े और भी कितने ही आदमियों का सहयोग होता है। इनमें दीवान या प्रधान मंत्री का पद मुख्य है। जिन राज्यों में दीवान होता है, वहाँ अन्य सब उच्च पदाधिकारी उसके अधीन होते हैं। कहीं-कहीं दीवान प्रधान मंत्री होता है, और विविध विभागों का प्रबन्ध करनेवाले मंत्री उसके सहायक होते हैं। किसी-किसी राज्य में प्रत्येक मन्त्री सीधा राजा की अधीनता में कार्य करता है। कहीं-कहीं प्रबन्धकारिणी कौंसिल है, इसके सदस्य भिन्न भिन्न विभागों का संचालन करते हैं; हाँ, जैसा पहले कहा गया है, सब महाराज के अधीन होते हैं।

दीवान पद के लिए जिन आदमियों में कुछ योग्यता होती है, उनमें से सफल रहने की आशा प्रायः उसी को हो सकती है, जिसका राजपरिवार से बहुत सम्पर्क रहा है, अथवा जिसने राजा साहब को पहले पढ़ाया था। कभी-कभी मामूली योग्यता का ऐसा आदमी भी दीवान होता रहा है, जो पोलिटिकल एजंट का कृपापात्र हो और जिसके लिए उसने लिखित या मौखिक सिफारिश कर दी हो। कुछ दशाओं में राजा साहब किसी ऐसे व्यक्ति को दीवान नियुक्त कर लेते है, जिसने पहले ब्रिटिश भारत में सरकार की नौकरी की हो, और जो उस समय अवकाश ग्रहण करके पेन्शन ले रहा हो। निदान, सुयोग्य, परिश्रमी, और विवेकवान सज्जन दीवान प्रायः कम ही बनता है। बाहरी प्रधानमन्त्री

प्रायः एक ओर तो राजा को अपनी खुशामद-दरामद से खुश रखने की कोशिश करता है, और दूसरी ओर जहाँ तक बन सकता है, अपने अधीन पदों पर अपने सम्बन्धियों या मित्रों आदि की नियुक्ति करता है। इस प्रकार उसे अपने स्वार्थ-साधन की चिन्ता रहती है, वह राजकीय विषयों में यथेष्ट ध्यान नहीं देता, वह जनता की उपेक्षा करता है। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि राज्य की व्यवस्था बहुत बिगड़ जाने पर पोलिटिकल एजंट की ओर से फटकार पड़ी तो प्रधान मन्त्री को बदल कर उसकी जगह कोई दूसरा बाहर का ही आदमी नियुक्त कर दिया गया। वह राजा को तो संतुष्ट रखने का प्रयत्न करता ही है, साथ में पोलिटिकल एजंट साहब को भी प्रसन्न करता रहता है। किन्तु वह प्रायः अपना स्वार्थ सिद्ध करना नहीं भूलता, वह अपने प्रभाव का दुरुपयोग करके राज्य से अधिक-से-अधिक धन संग्रह करने की फिक्र में रहता है।

अंगरेज दीवान—अब उस स्थिति का विचार करें, जब सरकार ने किसी राज्य के कुप्रबन्ध के आधार पर हस्तक्षेप करके वहाँ अपना आदमी भेजा। किसी-किसी राज्य में हिन्दुस्तानी अफसर भी भेजा गया, परन्तु प्रायः, और विशेषतया बड़े-बड़े राज्यों में, सरकार ने इसके लिए किसी अंगरेज को ही पसन्द किया। अंगरेज दीवान बहुधा उन राज्यों में भेजे गये, जहाँ राजाओं ने राजनीतिक विभाग की कुछ उपेक्षा की, और साथ ही उनमें कुछ व्यक्तिगत दोष अथवा घरेलू झगड़े भी थे। अंगरेज दीवान की भारी-भारी वेतन के कारण तो राज्य का खर्च बढ़ा ही, अन्य कारणों से भी ये बहुत मँहगे पड़े। जहाँ ये पहुँचे वहाँ स्वास्थ्य, पुलिस, एँजिनयरी आदि विभागों के उच्च पदों पर भी अंगरेज कर्मचारी बढ़ाए जाने लगे। इनके विविध प्रकार के खर्च के वास्ते रुपया जुटाने के लिए जनता पर तरह-तरह के नये कर लगाए गये। अनेक दशाओं में अंगरेज दीवान ने उन सुधारों को भी स्थगित कर दिया, जो

राजा साहब पहले करनेवाले थे। उसका व्यवहार प्रायः सहानुभूति-शून्य होता है, वह जनता की भावनाओं का आदर नहीं करता, और आतंक जमाने में विश्वास करता है। उसके सामने राजा और जनता दोनों दब जाते हैं, और राज्य को बड़ी हानि होती है।

मंत्रियों के, जनता के प्रति उत्तरदाई होने की आवश्यकता—प्रायः किसी भी रियासत में अभी तक प्रधान मंत्री ऐसा नहीं रहा, जो जनता का आदमी हो, जिसे मतदाताओं के अधिक-से-अधिक मत मिले हों, और जो निर्वाचित व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई हो। मंत्रियों में अब किसी-किसी राज्य में एक या अधिक सज्जन लोकप्रिय रखे जाने लगे हैं। ऐसी व्यवस्था होने की आवश्यकता है कि सब मंत्रियों का चुनाव प्रधान मन्त्री करे; और प्रधान मंत्री ऐसा व्यक्ति हो, जिसे व्यवस्थापक सभा के सब से अधिक सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो, या जिसकी नीति के पक्ष में अधिक से अधिक सदस्य हों।

राजकर्मचारी ; कर्तव्य पालन में उपेक्षा—राजकर्मचारियों को सार्वजनिक नौकर (पबलिक सर्वेंट) कहा जाता है। पर खासकर रियासतों में ऐसा कहना ठीक नहीं है। वे न तो सार्वजनिक हैं (वे अपने आपको राजा के या राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी के प्रति उत्तरदाई मानते हैं, सार्वजनिक जनता के प्रति नहीं), और न वे नौकर हैं (वे तो अपने आपको जनता पर हकूमत करनेवाला समझते हैं)। प्रायः देशी राज्यों में राजकर्मचारियों की भर्ती या नियुक्ति की कोई निर्धारित पद्धति नहीं है; न तो उनकी योग्यता की जांच करने के लिए वहां कोई पबलिक सर्विस कमीशन है और न इस विषय के यथेष्ट नियम ही बने हुए हैं कि अमुक पद के लिए ऐसी योग्यता वाला आदमी चाहिए।

अनेक कर्मचारी अपने कर्तव्यपालन की ओर इतना ध्यान नहीं देते, जितना उच्च अधिकारियों को प्रसन्न रखने की ओर देते हैं। इन

की वेतन प्रायः कम रहती है, तथापि ये बड़ी शान से रहते हैं, और अपने अफसरों को डाली या रिश्वत आदि से खुश रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये स्वयं रिश्वतखोर होते हैं और जनता से गैरकानूनी ढङ्ग से रुपया ऐंठते हैं। कभी-कभी कुछ अधिकारी रिश्वतखोरी की निन्दा करते हैं; जिनका रिश्वत लेना साबित हो जाता है, उन्हें दंड भी दिया जाता है। परन्तु रोग का ठीक इलाज नहीं किया जाता; इसके लिए कर्मचारियों की वेतन बढ़ाना भी आवश्यक है। कितने ही आदमी अधिक आयवाले अन्य पेशों के बजाय कम वेतनवाली राजकीय नौकरी अधिक पसन्द करते हैं। इसका कारण यह है कि राजकर्मचारी होने पर उन्हें एक तो 'ऊपर की आमदनी' की आशा बहुत रहती है; दूसरे इससे उन्हें जनता पर हकूमत करने का खूब मौका मिलता है। यह बात विशेषतया पुलिस विभाग में बहुत अधिक पायी जाती है, तभी तो कहावत चल पड़ी है, 'छः के चार कर दे, पर नाम दरोगा धर दे।' कुछ इने-गिने राज्यों को छोड़ कर, अन्यत्र पुलिस का जनता पर भारी आतंक रहता है। मजिस्ट्रेटों तक को पुलिस का लिहाज़ रहता है। बहुधा बड़े बड़े पदाधिकारियों को भी जितना ध्यान पुलिस आदि कर्मचारियों की प्रतिष्ठा का होता है, उतना जनता के सुख या स्वाधीनता का नहीं होता। उच्च अधिकारी नीचे के कर्मचारियों का समर्थन करते रहते हैं, प्रजा के कष्ट दूर करने का अवसर नहीं आता।

कर्मचारियों का अस्थायित्व—देशी राज्यों के कर्मचारियों के सम्बन्ध में यह शिकायत व्यापक रूप से है, कि वहाँ कोई आदमी किसी पद पर कब तक रहेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं रहता। आज एक आदमी साधारण कर्मचारी है, और बीस रुपये माहवार पाता है; किसी निजी कारण से वह राजा साहब की नजर में चढ़ गया तो कल ही किसी अन्य विभाग में उसका सौ रुपये महीने पर नियुक्त होना असम्भव नहीं; चाहे इस नए विभाग के सम्बन्ध में उसे मामूली ज्ञान

भी न हो। फिर, वेतन-वृद्धि का कोई निर्धारित नियम नहीं, एक आदमी की साल भर के भीतर ही दो-दो बार तरक्की हो जाती है, और उसके साथी कई-कई वर्ष तक अपने पुराने थोड़े से वेतन पर पड़े रह जाते हैं। इन बातों में सुधार होने की आवश्यकता है।

दलबन्दी—अब हम राजकर्मचारियों की दलबन्दी के सम्बन्ध में विचार करते हैं। प्रायः उनकी पार्टीबाजी या दलबन्दी किसी सिद्धान्त पर नहीं होती। इसका आधार बड़ा विचित्र, और व्यक्तिगत स्वार्थ होता है। राजा साहब की दो रानियों के एक-एक लड़का है, प्रत्येक रानी अपने पुत्र को राज का उत्तराधिकारी बनाना चाहती है; बस, दोनों की दो पार्टियाँ हो जाती हैं। अथवा, दीवान के व्यवहार ने महारानी को भड़का दिया तो विरोध खड़ा हो गया, कुछ अधिकारी महारानी के पक्ष के हो गये, दूसरों ने दीवान का समर्थन करने में अपनी स्वार्थ-सिद्धि समझी। कहीं-कहीं यह पार्टियाँ जातिगत या साम्प्रदायिक आधार पर होती है। राजा साहब एक खास जाति या सम्प्रदाय के हैं, और वे अपने कर्मचारियों की नियुक्ति में यह बात भूल नहीं सकते। बस, राज्य के कुछ उच्च पदों पर एक जाति विशेष के आदमियों का एकाधिकार सा हो जाता है। उनका एक दल बन जाता है। इससे दूसरी जातिवालों के उचित अधिकारों पर ठेस लगती है। वे अपना संगठन करते हैं, और एक ऐसा दल बनाते हैं, जिसमें दूसरे दल के विरोधी, कई जातियों और सम्प्रदायों के कर्मचारियों एवं अन्य व्यक्तियों का समावेश होता है। इन दोनों दलों का विरोध क्रमशः बढ़ता रहता है, और अवसर पाकर विस्फोट का रूप ग्रहण करता है। ऐसी दशाओं में राजा या दीवान आदि को बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है, कई बार गृह-युद्ध मिटाने के लिए सर्वोच्च सत्ता को हस्तक्षेप करने के लिए कहा गया, जिसका नतीजा अन्त में राजा या प्रजा के लिए, और कभी-कभी तो दोनों के लिए ही

हानिकारक हुआ। इससे स्पष्ट है कि राजकर्मचारियों की दलबन्दी कितनी घातक होती है।

सुधार की आवश्यकता—राजकर्मचारियों का चुनाव तथा नियुक्ति बहुत विचारपूर्वक होनी चाहिए। उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में ऐसी प्रबन्धकारिणी हो, जो जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदाई हो। जब कोई पदाधिकारी अपने आपको केवल राजा के प्रति जवाबदेह समझता है, तो वह उसे ही प्रसन्न करने के प्रयत्न में लगा रहता है, और अपने दूसरे कर्तव्यों की ओर समुचित ध्यान नहीं देता। वह समझता है कि वह अपने अन्य कार्यों की अवहेलना करने पर भी केवल राजा की कृपा-दृष्टि से अपने पद पर रह कर सरकारी कोष से वेतन पाता रह सकता है। इसका उपाय यही है कि वह कानून के अनुसार जनता का सेवक समझा जाय।

जिस प्रकार पदाधिकारियों की नियुक्ति उनकी योग्यता और अनुभव के आधार पर होनी चाहिए, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि जब तक कोई पदाधिकारी अपना कार्य अच्छी तरह करे, वह अपने पद पर बना रहे; और उसे तरक्की, प्रोवीडेन्ट फंड या पेन्शन आदि पाने का भरोसा रहे। उसे यह भी विश्वास होना चाहिए कि किसी की झूठी शिकायत या व्यर्थ की नाराजगी से मैं एकदम बर्खास्त नहीं कर दिया जाउँगा; वरन, यदि मुझ पर कोई अभियोग लगाया भी गया तो मुझे अपनी सफाई देने का यथेष्ट अवसर मिलेगा, और प्रत्येक दशा में मेरे लिए न्याय होगा। ऐसे आश्वासन पर सरकारी पदाधिकारी मन लगाकर, ईमानदारी से काम करते हैं, और जनता के प्रति सहानुभूति रखते हुए अपना कर्त्तव्य अच्छी तरह पालन करते हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

व्यवस्थापक सभाएँ

किसी शासन का केवल स्थापित हो जाना ही उसे 'कानून द्वारा स्थापित' सिद्ध नहीं करता। वास्तविक कानून तो वही माना जायगा, जिसे जनता का नैतिक समर्थन प्राप्त हो। हमारे भारतीय नरेशों के शासन इस कसौटी पर नितान्त बोदे साबित होते हैं।

—बी० एस० ठाकुर

पहले कहा गया है कि कुछ थोड़े-सों को छोड़ कर शेष सब देशी राज्यों में प्रायः राजा (प्रधान शासक) का शब्द ही कानून है और उसकी इच्छानुसार ही शासन-नीति निर्धारित होती है। राजा के विचार बदलते रहते हैं, इसलिए शासनपद्धति भी डावांडोल रहती है, उसमें स्थिरता नहीं होती। आवश्यकता है कि हरेक राज्य में कानून बनाने के लिए जनता के प्रतिनिधियों की व्यवस्थापक सभा का संगठन हो, और वह शासन-नीति ठहराए और उसे नियंत्रित करे।

देशी राज्यों की व्यवस्थापक सभाएँ—सरकार द्वारा नियुक्त बटलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट (सन् १६२८) में कहा था कि ५६२ देशी राज्यों में से सिर्फ ३० में व्यवस्थापक सभाएँ हैं। कुछ समय हुआ, नरेन्द्र मण्डल द्वारा तैयार किए हुए वक्तव्य में बताया गया कि ७१ राज्यों में व्यवस्थापक सभाएँ या इस तरह की संस्थाएँ है। अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद ने इसका खंडन करके फरवरी १६४७ में उन राज्यों की, सूची तैयार की, जिनमें व्यवस्थापक सभा है। इस सूची में ४२ राज्यों का नाम दिया गया है और उनमें से आगे लिखे ३० राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं का ब्योरा प्रकाशित किया है :—

(१) कशमीर, (२) हैदराबाद, (३) मैसूर, (४) गवालियर, (५) बड़ौदा, (६) जयपुर, (७) इन्दौर, (८) कोचीन, (९) त्रावणकोर, (१०) कोल्हापुर, (११) रामपुर, (१२) कूचविहार, (१३) मयूरभंज, (१४) नयागढ़, (१५) सिरमूर, (१६) भावनगर, (१७) पोरबन्दर, (१८) पदुकोटा, (१९) सीतामऊ, (२०) फलटन, (२१) मीराज जूनियर, (२२) मोर, (२३) औंध, (२४) सावन्तवाडी, (२५) कुरन्दवाद सीनियर (२६) मुधोल, (२७) मिराज़ सीनियर, (२८) देवास जूनियर, (२९) सांगली, (३०) जमखडी। इनके अलावा तीन अन्य राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं का व्योरा हमें प्राप्त है:—(३१) ओरछा, (३२) जोधपुर, (३३) उदयपुर।*

इनके सिवा जिन राज्यों में अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद की सूची के अनुसार व्यवस्थापक सभाएँ हैं, वे राज्य निम्न-लिखित हैं—(१) बनारस, (२) झीन्द, (३) सरायकेला; (४), भोपाल, (५) भरतपुर, (६) टेहरी-गढ़वाल, (७) पालनपुर, (८) रामगढ़, (९) अकलकोट, (१०) त्रिपुरा, (११) ईदर, (१२) बांमवाड़ा।

व्यवस्थापक सभाओं का संगठन—इन राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं में से कई-एक में सरकारी सदस्यों की संख्या गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या के बराबर या उससे भी अधिक है, और गैर-सरकारी सदस्य भी जनता द्वारा निर्वाचित न होकर अधिकारियों द्वारा नामज़द किये जाते हैं, अथवा म्युनिसपेलटियों आदि द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार उन्नत माने जानेवाले राज्यों में भी व्यवस्थापक सभाओं द्वारा जनता का मत प्रायः यथेष्ट ज़ाहिर नहीं होता।

मताधिकार (अर्थात् प्रतिनिधि चुनने में मत देने का अधिकार) राज्य के अधिक-से-अधिक आदमियों को मिलना चाहिए, और समान

* मैसूर, गवालियर, जयपुर, त्रावणकोर, और ओरछा में दो-दो व्यवस्थापक सभाएँ हैं, और शेष सब राज्यों में एक-एक।

रूप से मिलना चाहिए। कोई श्रेणी उनसे वंचित न रहनी चाहिए, और न किसी जाति, धर्म, या पेशेवालों से कुछ विशेष रियायत होनी चाहिए। इसमें अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, किसान-जमींदार आदि का विचार न हो; किसी के सम्पत्ति रखने या कुछ टेक्स (कर) देने अथवा शिक्षित होने की शर्त न हो। हाँ, राज्य के नाबालिग, कोढ़ी या पागल आदि को यह अधिकार मिलना उचित नहीं। इन्हें छोड़ कर दूसरे सब आदमियों को यह अधिकार मिलना चाहिए। इसे बालिग मताधिकार' कहा जाता है।

व्यवस्थापक सभाओं के अधिकार—देशी राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं की शक्ति का विचार करने के लिए हम आगे यह बताते हैं कि उन्नत राज्यों में व्यवस्थापक सभाओं के अधिकार क्या होते हैं, उन अधिकारों से जनता को क्या लाभ पहुँचता है। उससे हमें देशी राज्यों के सम्बन्ध में तुलनात्मक विचार करने में सुविधा होगी।

१—प्रश्न पूछना। उन्नत राज्य में व्यवस्थापक सभा के अधिवेशन में कोई सदस्य सरकार से आवश्यक विषयों का प्रश्न करके सरकार का ध्यान उसके दोषों की ओर दिला सकता है। इससे सरकार अपनी गलती का तुरन्त सुधार करती है, तथा आगे के लिए इस विषय में अधिक सावधान हो जाती है। देशी राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं को यह अधिकार बहुत ही कम है।

२—काम-रोको प्रस्ताव। उन्नत राज्य में व्यवस्थापक सभा के सदस्यों को अधिकार होता है कि सभा के अधिवेशन में सार्वजनिक हित की किसी निश्चित और ताजी घटना पर विचार कराने के लिए साधारण कार्यवाही रोकने का प्रस्ताव करें। यह इसलिए किया जाता है कि उस विशेष घटना पर जल्द विचार किया जाय, और सरकार का उस ओर ध्यान दिलाया जाय। देशी राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं में से किसी-किसी को ही ऐसा अधिकार है।

३—अविश्वास का प्रस्ताव। उन्नत राज्यों में व्यवस्थापक सभा को यह अधिकार होता है कि यदि सरकार उसके द्वारा निर्धारित नीति पर न चले, या उसके बनाए कानूनों का ठीक-ठीक पालन न करे तो वह सरकार के विरुद्ध अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव पास हो जाने से सर्वसाधारण यह जान लेते हैं कि सरकार का काम लोकप्रतिनिधियों के मत के विपरीत हो रहा है। इसका परिणाम तुरन्त ही यह होता है कि या तो सरकार (प्रबन्धकारिणी सभा) भङ्ग होकर दूसरी नयी सरकार का संगठन होता है, अथवा कुछ दशाओं में वह व्यवस्थापक सभा भङ्ग होकर नये चुनाव द्वारा नयी व्यवस्थापक सभा का निर्माण किया जाता है। देशी राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं को इस प्रकार का अधिकार बिल्कुल नहीं है।

४—कानून बनाना। स्वतन्त्र व्यवस्थापक सभाएँ अपने-अपने राज्य की उन्नति के लिए विविध प्रकार के कानून बनाती है तथा संशोधन करती है, और उनके बनाए हुए या संशोधित किए हुए कानूनों के अनुसार ही सरकार को राजप्रबन्ध करना होता है। परन्तु भारतवर्ष के देशी राज्यों की अधिकतर व्यवस्थापक सभाओं को इस विषय में नाममात्र का ही अधिकार है। अधिकांश महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में उन्हें कानून बनाने या संशोधन करने का अधिकार नहीं होता। जिन विषयों का ये कानून बना सकती हैं, उनमें से बहुतों के लिए पहले राजा या दीवान की अनुमति ली जानी आवश्यक है, अनुमति न मिलने की दशा में उन विषयों सम्बन्धी किसी कानून का प्रस्ताव या संशोधन सभा में उपस्थित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जो कानून इन सभाओं द्वारा बनाए जाते हैं, उनके मानने के लिए राजा बाध्य नहीं होता, चाहे उन कानूनों का मसविदा कितने ही भारी बहुमत से पास क्यों न हुआ हो। राजा को अधिकार है कि वह उन कानूनों में से जिसको चाहे अमल में आने दे, और जिसको चाहे रद्द, संशोधित

या स्थगित कर दे। इन सब बातों का विचार करने पर यह साफ़ ज़ाहिर है कि इन सभाओं को 'व्यवस्थापक सभा' कहना ठीक नहीं। इन्हें केवल 'परामर्श या सलाह देनेवाली सभा' कहा जाना चाहिए।

इन सभाओं में से अधिकांश के सदस्यों के रूप में, कुछ वफ़ादार राजभक्त व्यक्ति साल में एक-दो बार धूम-धाम से इकट्ठे होते हैं, और अनुत्तरदाई शासन के आदेशों पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाकर अपने-अपने घर लौट आते हैं। इस प्रकार ये राजा साहब की कृपा-दृष्टि पाते हैं, तथा अन्य पदाधिकारियों की नज़र में बहुत ऊँचे ठहरने लगते हैं। और, इन सदस्यों की राजभक्ति तथा सेवा का पुरष्कार इन्हें अनेक प्रकार से मिल सकता है; हाँ, उस सब का भार साधारण जनता के सिर पर पड़ता है।

५—आय-व्यय का नियन्त्रण—उन्नत राज्यों में व्यवस्थापक सभाएँ राज्य के पूरे आय और व्यय का नियन्त्रण करती हैं। वे यह निश्चय करती है कि नागरिकों पर कौन कौनसे टेक्स या कर लगाए जायँ; यदि विशेष आय की आवश्यकता हो तो कहाँ से एवं किन शर्तों पर ऋण लिया जाय। इसी प्रकार यह निश्चय किया जाता है कि राज्य सम्बन्धी किस-किस विभाग में कितना-कितना रुपया खर्च किया जाना उचित है। यदि सरकार व्यवस्थापक सभा के आदेशानुसार काम नहीं करती तो उसे अपनी सफ़ाई देनी होती है, जिसके सन्तोष-प्रद न होने की दशा में सरकार को निन्दा का प्रस्ताव सहना तथा अपना अन्त कर देना होता है। अच्छा, इस विषय में देशी राज्यों की व्यवस्थापक सभाओं को कहाँ तक अधिकार है? संक्षेप में, अधिकांश सभाओं को प्रायः कुछ भी नहीं। इन राज्यों में बजट, सभा के विचार के वास्ते या मत देने के लिए, प्रकाशित नहीं किया जाता। शासक अपनी इच्छानुसार कर आदि लगाते हैं, और जैसा चाहते हैं, खर्च करते हैं।

व्यवस्थापक सभा का उन पर कुछ नियन्त्रण नहीं।

सलाहकार सभाएँ—गत वर्षों में कुछ राज्यों में सलाहकार सभाओं या 'एडविज़री कौंसिलों' की स्थापना हुई है। इनके द्वारा राजाओं की शक्ति पर कितना नियन्त्रण हुआ है, अथवा नागरिकों को कितने अधिकार मिले हैं, यह इसी से अनुमान किया जा सकता है कि अधिकांश राज्यों में 'व्यवस्थापक सभा' कही जानेवाली संस्थाओं में भी कुछ जीवन नहीं है। एडविज़री कौंसिल के सदस्य राजा के कृपा-पात्र ही होते हैं; उसकी मीटिंग कितने समय बाद होगी, इसका कोई नियम नहीं होता। फिर, यदि इसकी मीटिंग भी होगी तो यह उसी बात पर अपनी मोहर लगावेगी, जिसे राजा साहब चाहेंगे। इस प्रकार अधिकतर देशी राज्यों की व्यवस्थापक तथा सलाहकार सभाएँ सिर्फ शोभा के लिए हैं, जन-हितकारी नहीं।

व्यवस्थापक सभाएँ कैसी होनी चाहिएँ?—व्यवस्थापक सभा अपने उद्देश्य को पूरा करने वाली हो, इसके लिए उसके सदस्य प्रजाप्रतिनिधि होने चाहिएँ। प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए अधिक-से-अधिक जनता को मताधिकार होना ज़रूरी है। आदर्श तो बालिग मताधिकार ही रहना ठीक है। हर एक कानून व्यवस्थापक सभा द्वारा पास होने पर अमल में आना चाहिए और व्यवस्थापक सभा का, प्रबन्धकारिणी के सदस्यों तथा राजकीय आय-व्यय पर पूरा नियंत्रण रहना चाहिए। राजा का निजी खर्च भी आय-व्यय अनुमान-पत्र अर्थात् बजट में साफ तौर से दिखाया जाना चाहिए। इस तरह व्यवस्थापक सभा को राजकार्य संचालन की विधि निश्चित करने का अधिकार होने से शासन-कार्य जनता के द्वारा और जनता के हित के लिए होगा।

———

बारहवाँ अध्याय

न्यायालय

अच्छे राज्य का एक बड़ा लक्षण यह है कि वहाँ सब के साथ समान न्याय होता है। —सर टी० माधव राव

पिछले अध्याय में कानून-निर्माण के सम्बन्ध में लिखा गया है। सिद्धान्त की बात यह है कि कानून जिस प्रकार नागरिकों पर लागू होता है, उसी प्रकार शासकों या सरकारी कर्मचारियों पर। जब नागरिकों और शासकों में किसी विषय में मतभेद हो तो उसका निपटारा करने के लिए न्यायालय होते हैं। न्यायालय इस बात का भी विचार करते हैं कि यदि दो या अधिक नागरिकों का पारस्परिक झगड़ा हो तो कानून की दृष्टि से किस का पक्ष उचित है और किस का अनुचित। न्यायालय के मुख्य अधिकारी न्यायाधीश, जज, या मुन्सिफ आदि कहलाते हैं। न्याय का उद्देश्य तभी सफल होता है, जब वह सस्ता और निष्पक्ष हो तथा जल्दी ही मिलनेवाला हो।

देशी राज्यों में न्यायालयों की दशा—अब हम यह विचार करें कि देशी राज्यों में न्यायालयों तथा न्याय की क्या दशा है? पहली बात तो यही है कि ये न्यायालय कानून द्वारा स्थापित नहीं हैं, वरन् शासकवर्ग के अधीन विभाग मात्र हैं। इन्हें अपने अधिकार, अपने-अपने क्षेत्र के प्रधान शासक अर्थात् राजा से प्राप्त हैं। राजा स्वेच्छा-पूर्वक जो आज्ञा दे दे, वही कानून समझा जाता है। कभी-कभी ब्रिटिश भारत का कोई कानून जारी किया गया तो वह वर्षों उसी रूप में पड़ा रहा, जब कि ब्रिटिश भारत में उसमें व्यवस्थापक सभाओं

द्वारा समय-समय पर आवश्यक संशोधन होता रहा।

चालीस से कुछ ही अधिक राज्यों में ही हाईकोर्ट, या हजूर न्यायालय अथवा चीफ कोर्ट हैं। ये अपील की सब से ऊंची अदालतें हैं। इनके नीचे जिले की अदालतें या सेशन कोर्ट हैं, इनमें किसी भी रकम के दीवानी दावों का तथा घोर अपराधों का विचार हो सकता है। इनमें इनसे नीचे की अदालतों के फैसले की अपील भी होती है। अधीन सिविल अदालतों में निर्धारित रकम तक के दावे सुने जाते हैं और छोटे जुर्मों का विचार होता है। मजिस्ट्रेटों की अदालतों के अधिकार जुदा-जुदा हैं, ये १५ दिन से लेकर सात वर्ष तक की सजा तथा विविध जुर्माना कर सकते हैं। कुछ अदालतें ऐसी हैं, जिनमें ज़मीन और मालगुजारी सम्बन्धी मामलों का विचार होता है, इनमें जमींदारों और काश्तकारों के उत्तराधिकार, अन्य अधिकार और उत्तरदायित्व सम्बन्धी मामले भी सुने जाते हैं। कुछ इनेगिने राज्यों को छोड़कर, फौजदारी अदालतों में प्रायः जूरी की प्रथा नहीं है।*

अधिकारियों का प्रभाव—राजा, दीवान या प्रधान मंत्री का तो कहना ही क्या, देशी राज्यों में अन्य उच्च अधिकारियों का भी लोगों पर ऐसा आतंक छाया रहता है कि वे उनके विरुद्ध कोई मुकदमा या मामला चलाना व्यर्थ का झगड़ा मोल लेना समझते हैं। अनेक आदमी इतने निर्धन होते हैं कि वे ऐसी मुकदमेबाजी के लिए आवश्यक व्यय भी नहीं कर सकते। उनके लिए सरकारी कर्मचारियों

*फौजदारी मामलों में बहुधा यह सम्भावना रहती है कि अकेले न्यायाधीश का निर्णय काफी विचारपूर्ण न हो। इसलिए उन्नत राज्यों में ऐसे निर्णय में अभियुक्त की जाति या देश के कुछ सुयोग्य सज्जन भाग लेते हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से 'जूरी' कहते हैं। जूरी यह विचार करती है कि अभियोग सम्बन्धी वास्तविक घटनाएँ क्या हैं। जूरी के मत के आधार पर जज कानून की दृष्टि से फैसला सुनाता है।

के विरुद्ध ऐसा सबूत संग्रह करना भी कठिन ही होता है, जो न्यायालय में मान्य हो। फिर, अनेक मजिस्ट्रेटों और न्यायधीशों पर पुलिस आदि के पदाधिकारी काफी प्रभाव रखते हैं। इन सब बातों से बेचारी ग़रीब प्रजा को पदाधिकारियों के विरुद्ध न्याय पाना प्रायः असम्भव ही होता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति और वेतन—अधिकतर देशी राज्यों में न्याय सम्बन्धी पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए कोई नियम या सिद्धान्त निर्धारित नहीं होता। शासक जिसे चाहते हैं, उसे न्यायधीश बना देते हैं, चाहे उसमें न्याय करने की योग्यता हो या न हो। अनेक दशाओं में प्रधान मन्त्री या राजा के कृपापात्रों के मित्र अथवा सम्बन्धी आदि को ही यह कार्य सौंप दिया जाता रहा है। कभी-कभी नियुक्ति का आधार यह रहा है कि पोलिटिकल अफसर या राजा साहब से सम्बन्धित व्यक्ति ने उम्मेदवार की सिफारिश कर दी है। निदान, न्याय-कार्य करनेवालों में ऐसे बहुत कम होते हैं, जिनमें इस कार्य को भली-भाति सम्पादन करने की यथेष्ट योग्यता हो। फिर, अधिकाश न्यायाधीश पदों का वेतन बहुत कम होता है, छोटी-छोटी वेतन पर अच्छे आदमियों का मिलना दुर्लभ ही होता है। अगर कभी सुयोग से, जैसा चाहिए वैसा आदमी आ भी जाता है तो स्थानीय वातावरण ऐसा होता है कि उसका जम कर रहना नहीं हो सकता; वह थोड़े समय में ही काम छोड़ने के लिए मजबूर हो जाता है। सारांश यह कि न्याय करनेवाले अधिकारियों में अधिकांश ऐसे होते हैं, जिन्होंने नियमित रूप से कुछ भी कानूनी शिक्षा नहीं पायी। ये लोग प्रजा पर जुर्माना करके राज्य की आमदनी बढ़ाना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

न्याय में विलम्ब—कुछ देशी राज्यों में हाईकोर्ट का प्रधान स्वयं राजा होता है, और कुछ में प्रधान मन्त्री या अन्य न्यायाधिकारी।

न्याय सम्बन्धी सर्वोच्च निर्णय राजा का निर्णय होता है। राजा की शिक्षा प्रायः ऐसी होती है कि उसमें कानून तथा घटनाओं की पेचीदगी भरी बातों के सम्बन्ध में ठीक निर्णय करने की योग्यता नहीं होती। फिर, जब कि राजा साहब को, जो प्रायः आरामतलब होते हैं, घुड़दौड़, नाच, विदेशयात्रा, शिकार, अतिथि-सत्कार आदि में लगे रहने के कारण शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी कामों के लिए समय भी बहुत कम मिलता है तो उन्हें मुकदमों का फैसला करने के लिए ही फुरसत कैसे हो! निदान, जब राजा साहब न्यायाधीश का कार्य करते हैं तो यह स्वाभाविक ही है कि अपीलें महीनों ही नहीं, वर्षों अटकी पड़ी रहें। प्रायः अपीलों का काम बराबर स्थगित होता रहता है, यहाँ तक कि किसी अपील में दर्जनों बार नयी तारीख लगने और इस बीच में अपील सम्बन्धी कुछ कागजात भी गुम हो जाने के उदाहरण मिलते हैं। अथवा, यह भी होता है कि जब राजा साहब को कुछ हुक्म सुनाना ही हुआ तो वे इस सरल सूत्र से काम लेते हैं कि 'राजा साहब को नीचे की अदालत से मतभेद प्रकट करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।' यह सूत्र प्रधान मन्त्री के भी बहुत काम आता है, जिसे राज्य सम्बन्धी अनेक कार्यों में लगे रहना होता है। अस्तु, फौजदारी मामलों में फैसला कभी-कभी इतनी देरी से होता है कि इस बीच में अभियुक्त हवालात में रहकर कैद के समान दंड काफी मात्रा में भुगत चुकते हैं, अथवा वादी प्रतिवादी पक्ष के कुछ व्यक्तियों का देहान्त हो चुकता है, और उनके उत्तराधिकारी जब पुराने मुकदमे का फैसला सुनते हैं तो आश्चर्य करते रह जाते हैं।

नीचे की अदालतें—नीचे की अदालतों की कथा भी खेदजनक है, हाँ वह कुछ और ढङ्ग की है। इन अदालतों के न्यायकर्ता अपने कार्य के लिए कुछ अच्छी योग्यता वाले होते हैं, परन्तु एक तो इन्हें वेतन कम मिलता है, दूसरे इन्हें कितने ही गैर-अदालती कामों की

ओर ध्यान देना पड़ता है; उदाहरण के लिए राजा, उनके मित्रों या उनके सम्बन्धियों की विवाह-शादी, जन्म-मरण-संस्कार, उत्सव, त्योहार, तीर्थ-यात्रा या दौरा आदि। फिर, ये लोग कभी-कभी अपना निजी व्यापार-धंधा भी करते रहते हैं; यदि प्रत्यक्ष में, अपने नाम से करने में कुछ आपत्ति आती है, तो अपने किसी मित्र या सम्बन्धी के नाम की आड़ में करलेते हैं। नतीजा यह होता है कि मुकदमों का काम पड़ा रहता है, फैसलों में ढीलढाल होती है। और फैसला ठीक ही होगा, इसका भी भरोसा नहीं होता। बहुत से अभियुक्तों को दण्ड होने से पहले ही महीनों और वर्षों में हवालात या जेल में रहना पड़ता है। ऐसी बातों से लोगों का अदालतों में विश्वास कैसे रह सकता है!

अनेक बार नागरिकों का राज्य के प्रबन्ध-विभाग के आदमियों से ही विरोध होता है। ऐसी दशा में निष्पक्ष न्याय तभी हो सकता है, जब न्यायाधीश स्वतंत्र हों, वे शासन-विभाग से सम्बन्धित अथवा उसके प्रभाव में आनेवाले न हों। देशी राज्यों में ऐसी व्यवस्था बहुत कम है। जहां शासन और न्याय विभाग जुदा-जुदा होने की बात कही जाती है, वहाँ भी वे पूरे तौर से अलग-अलग नहीं हैं, प्रायः राजधानियों में ही न्याय करनेवाले अधिकारी शासकों से जुदा है, और उनमें भी ऐसे बिरले ही होते हैं जो राजा साहब या दीवान के भावों के विरुद्ध स्वतंत्र फैसला दे सके। राजधानी को छोड़कर राज्य के दूसरे हिस्सों की अदालतों में प्रायः प्रबन्ध या माल विभाग के कर्मचारियों को ही न्याय-कार्य भी सौंपा हुआ रहता है। उन पर पुलिस आदि का बड़ा प्रभाव होता है। इस दशा में साधारण नागरिक निस्पक्ष न्याय की आशा नहीं कर सकते।

न्यायालय कैसे होने चाहिएँ?—राज्यों के बड़े और छोटे सब न्यायालय स्वतंत्र होने चाहिएँ, उन पर पुलिस आदि या खुद राजा साहब का भी प्रभाव न पड़ना चाहिए। प्रधान न्यायालय के न्यायाधीशों

की नियुक्ति, उनके पद या वेतन की वृद्धि राजाओं की स्वेच्छा-पूर्ण नीति से न होकर, निर्धारित नियमों के अनुसार होनी चाहिए, जिसमें शासकों का अनुचित हस्तक्षेप न हो। फिर, जबतक वे अपने पद पर रहें उनके वेतन या छुट्टी आदि के अधिकार में कमी न की जाय, और उन्हें केवल दुराचार या मानसिक अथवा शारीरिक निर्बलता के सिवाय किसी अन्य आधार पर हटाया न जाना चाहिए। न्याय-पद्धति यथा-सम्भव उसी प्रकार की होनी चाहिए, जैसी देश के अन्य भागों में है। न्याय पाने की क्रिया सरल और सस्ती होनी चाहिए। म० गांधी का मत है कि 'न्याय-कार्य की समानता तथा एकता एवं सच्ची निष्पक्षता के लिए प्रत्येक राज्य के मुकदमों की, उस प्रान्त के हाईकोर्ट में अपील हो सके, जिसमें कि वह राज्य है। जो राज्य ब्रिटिश भारत के प्रान्तों से बाहर हैं उनका सम्बन्ध ब्रिटिश भारत के किसी प्रान्त के हाईकोर्ट से कर दिया जाना चाहिए।' हाई-कोर्ट का कानून बदले बिना यह सम्भव नहीं है, परन्तु महात्मा जी का कथन है कि अगर रियासतें सहमत हो जायँ तो वह आसानी से बदला जा सकता है।

तेरहवाँ अध्याय

जागीरदारी

जागीरों को 'राज्य के अन्दर राज्य' कहा जा सकता है। उन पर किसी कानून की सत्ता नहीं चलती। अपनी जागीर में रहने-वाली प्रजा पर वे जिस तरह चाहें हकूमत कर सकते हैं; राजा-महाराजा उसमें हस्तक्षेप करने की हिम्मत नहीं कर सकते। इसलिए इन जागीरों में रहनेवाली प्रजा की स्थिति देशी रियासतों की दुनियाँ में बुरी-से-बुरी है।

—म० गांधी

जागीरदारी और जमींदारी—ब्रिटिश भारत कहे जाने वाले क्षेत्रों के पाठक ज़मींदारी प्रथा से परिचित हैं, रियासतों की जागीरदारी प्रथा उससे कहीं अधिक विकराल रूप धारण किए हुए है। बात यह कि जमींदार तो किसानों पर आर्थिक भार के रूप में ही हैं। उन्हें ऐसे अधिकार नहीं है कि वे उन पर और ज्यादतियाँ कर सकें। फिर, प्रान्तों में जिम्मेदार हकूमत होने के कारण आवश्यकता होने पर जमींदारों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की जा सकती है; और अब तो कई प्रान्तों की सरकारों ने यह निश्चय कर लिया है कि जमींदारी प्रथा उठा दी जाय और किसान और सरकार के बीच में जमींदारों का जो अनावश्यक शोषक वर्ग है, वह न रहे।

रियासतों की जागीरदारी की बात दूसरी है। कहीं-कहीं एक जागीरदार की वार्षिक आय लाखों रुपये की है, और वह लोकहित के लिए प्रायः कुछ भी खर्च नहीं करता। उसे पुलिस रखने और अदालत चलाने का अधिकार है, और वह अपने यहाँ के राजा या नवाब आदि की गैर-जिम्मेवार हकूमत का फायदा उठा कर जनता का खूब शोषण करता है, तथा उस पर तरह-तरह के अत्याचार करता है।

जागीरों का विस्तार—जागीरदारों को ठिकानेदार, ठाकुर, सरदार, मुल्गीरासिया, भैयात आदि भी कहा जाता है और इनमें छुट-भैये, इनामी, मनसबदार आदि शामिल हैं। यों तो जागीरें करीब-करीब सभी रियासतों में हैं, पर कहीं-कहीं तो उनका अधिकांश भाग जागीरी इलाका ही है। मिसाल के तौर पर जोधपुर में लगभग १३०० जागीरदार है, और वहा की लगभग ८२ फी सदी जमीन उनके पास है। जयपुर में छोटे बड़े जागीरदारों की संख्या लगभग ७०० है, और उनके पास रियासत की करीब ७० फी सदी ज़मीन है। रतलाम में जागीरी इलाका करीब ४६ प्रतिशत है। हैदराबाद में लगभग ११०० जागीरदार है। इसी तरह मेवाड़, बीकानेर इन्दौर, गवालियर, मैसूर

आदि दूसरी रियासतों में भी जागीरदार और जागीरें हैं।*

जागीरें कैसे बनीं?—जागीरों की सृष्टि कई प्रकार से हुई है—(१) कुछ जागीरें तो ऐसी हैं, जिन्हें जागीरदारों ने सीधे मुगल सम्राट् से, प्रति वर्ष निर्धारित रकम देना स्वीकार करके, पट्टे पर ले लिया था। ये जागीरदार ज़मीन की मालगुज़ारी वसूल करने लगे; क्रमशः इनके, जनता पर भी कुछ अधिकार हो गये। पीछे जब केन्द्रीय शक्ति कमजोर हुई तो ये जागीरदार स्वतंत्र हो गये। (२) कुछ छोटे-छोटे राज्यों के शासकों ने, अशान्ति के समय, अपनी रक्षा के लिए किसी बड़े राजा की शरण ली, और अपने आप उसके जागीरदार की भाँति रहना स्वीकार कर लिया; इनके जनता पर कुछ अधिकार मान लिये गये। (३) बहुत सी जागीरें ऐसी हैं जो राजाओं ने सरदारों आदि को उनकी सैनिक सेवा से प्रसन्न होकर, या भविष्य में सैनिक सेवा प्राप्त करने के लिए, दीं। ऐसा करते समय यह निश्चय कर दिया गया कि जागीरदार को इतनी सेना रखनी होगी; राजा को जब ज़रूरत हो वह उससे इतने पैदल सैनिक या घुड़सवार ले सकेगा। (४) कुछ जागीरें वे हैं, जो राजाओं ने अपने छोटे भाइयों या रिश्तेदारों आदि को उनका भली भाँति निर्वाह होने के लिए दीं। (५) कभी-कभी जागीरें उन बलवान या प्रभावशाली व्यक्तियों को भी दी गयीं, जिनसे राजा को विरोध की आशंका थी। यह इसलिए किया गया कि वे सतुष्ट रहें और राजा का विरोध न करें। (६) कुछ जागीरें हाँ-हजूरों, खुशामदियों, कवियों, लेखकों, मंदिरों या पुरोहितों आदि को भी दी गयीं।

---

*जो भूमि राज्य के खास अधिकार में होती है उसे 'खालसा' कहते हैं, और जो जागीरदारों के अधिकार में होती है, 'जागीर' कहलाती है; जागीर की मालगुजारी जागीरदार ही लेता है, वह राज्य को निर्धारित खिराज आदि देता है। बड़े-बड़े जागीरदारों को राजस्थान में 'ताजीमी सरदार' कहते हैं।

जागीर के उत्तराधिकार के विषय में कोई सर्वव्यापी नियम नहीं है प्रायः पुरानी परम्परा बर्ती जाती है। कहीं-कहीं जागीरदार के मरने पर उसकी जागीर उसके लड़कों में बराबर-बराबर बँटने का नियम है, और कहा-कहीं वह केवल बड़े लड़के को ही मिलती है; उसके छोटे भाइयों को उनके निर्वाह के लिए कुछ वृत्ति दी जाती है। पहली दशा में जागीरदारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, और जागीर के टुकड़े छोटे-छोटे होते जाते हैं, यहां तक कि एक गाँव के अनेक जागीरदार हो जाते हैं। वे नाम के ही उमराव या ठाकुर आदि होते हैं; वैसे उनकी माली हालत मामूली गृहस्थियों जैसी होती है।

जागीरों में अत्याचार—मुरेना जिला (गवालियर राज्य) के जागीरी प्रजा-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिये हुए अपने भाषण में श्री० रामचन्द्रजी मोरेश्वर करकरे ने बतलाया था कि कितने ही जागीरदारों ने अपना जागीर का प्रबन्ध किसी 'कामदार' को सौंप कर स्वयं खालसा में उच्च पदों की नौकरियाँ प्राप्त कर ली हैं। यद्यपि कहने को उन पर राज्य का नियंत्रण है, और कानून का बन्धन है, वास्तव में राज्य और कानून उनके संरक्षक ही है। इन जागीरदारों के खिलाफ नालिशें आसानी से नहीं हो सकती, उनके विरुद्ध फौजदारी चाराजोरी नहीं की जा सकती, डिगरी होने पर वे गिरफ्तार नहीं हो सकते, जायदाद की कुर्की नहीं हो सकती, रुपया सीधे तरीके से वसूल नहीं हो सकता। इसके विपरीत, अपने दीवानी, माली और फौजदारी अधिकारों के कारण जो इन्हें मिले होते हैं, या जिनका ये दुरुपयोग कर लेते हैं, ये लोग हर किसी को दंड दे सकते हैं, जुर्माना कर सकते हैं, झूठे मुकदमे चला सकते हैं, जब्ती, और मार-पीट कर सकते हैं।

भूमि-कर के अतिरिक्त, प्रत्येक ठिकाने में जागीरदार किसानों से अनेक लाग-बाग वसूल करते हैं। राजपूताना-मध्यभारत सभा के सभापति श्री० कन्हैयालाल जी कलयन्त्री ने अपनी पुस्तक ('जागीरों

की समस्या') में ७२ प्रकार के करों की सूची दी है, और लिखा है कि अधभूखा, और अर्द्धनग्न, घास की झोपड़ियों में रहनेवाला, दुष्काल और सूदखोरी से सतायी हुई जनता से वसूल किए जानेवाले ये कर 'कर' नहीं, वरन् जीवित रक्त की बूँन्दें हैं।* फिर, ठिकाने के कर्मचारियों के अत्याचारों का तो वर्णन ही क्या किया जाय! लाग-बाग तथा बेगार के लिए अनेक स्थानों में किसानों को मारने-पीटने, नँगा करके धूप में खड़ा करने की ही नहीं, उन्हें 'काठ में देने' की बर्बरता-पूर्ण प्रथा प्रचलित है। स्त्रियों को अपमानित करना भी मामूली बात है। जागीरी क्षेत्रों में नागरिक-अधिकारों का प्रश्न तो निरा स्वप्न ही है। जनता की शिक्षा तथा आजीविका के साधन कम हैं, और मानसिक तथा आर्थिक स्थिति बहुत खराब है। निदान, कुछ आदमी आजीविका के लिए, कुछ अपने बाल बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के लिए, कुछ अपनी मान-रक्षा के लिए और कुछ अपना धन बढ़ाने के लिए जागीरों को छोड़ते रहते हैं।

जागीरदार रियासतों की प्रगति में बाधक हैं—ऊपर बताया जा चुका है कि जागीरदार जनता का शोषण और उस पर अत्याचार करते हैं। इसके अलावा, इनका रियासत की शासन-व्यवस्था में काफी हाथ होता है। ये या इनके आदमी काफी संख्या में

---

*कुछ नमूने देखिए—होली दीवाली दशहरे या जन्म-दिवस पर नज़राना, तथा घर में होनेवाला सब दूध दही. मेहमानों की सेवा के लिए आदमी और उनके सोने के वास्ते चारपाई ठाकुर के यहाँ लड़का लड़की पैदा होने या उनका विवाह होने के अवसर पर कर, ठाकुर के माता पिता के मरने पर कर, बकरी गाय या भैंस ऊँट आदि रखने या बेचने पर कर, नाई से हजामत. बर्तन मँजाना तथा चप्पी (हाथ पाँव दबवाना), दर्जी से कपड़े सिलाना, रंगरेज से कपड़े रंगाना और चमार से जूते सिलाना मुफ्त. ठाकुर के यहाँ कोई मर जाय तो रोने के लिए स्त्रियों का जाना, आदि

व्यवस्थापक सभा के सदस्य या उच्च पदाधिकारी होते हैं। इसलिए ऐसा कोई कानून बनना बहुत ही कठिन होता है जिससे इनकी निरंकुशता का नियंत्रण हो या इनकी बेजा हरकतों पर रोक लगे। साधारण रियासतों की तो बात ही क्या, बहुत उन्नत समझी जाने वाली रियासतों में भी ये अपने लिए विशेषाधिकारों की मांग करते हैं, और विविध संरक्षण चाहते हैं। जब कभी कोई वैधानिक प्रगति की बात उठती है तो जागीरदार संगठित रूप से उसका विरोध करते हैं, यहां तक कि कुछ दशाओं में राजा के खिलाफ खड़ा होने की धमकी देते हैं। इस तरह जागीरदार अपने क्षेत्र की जनता की न सिर्फ सामाजिक और आर्थिक स्थिति को बिगाड़े हुए हैं, बल्कि वे उसकी वैधानिक प्रगति को भी रोके हुए हैं। यह ठीक है कि जहाँ तहाँ कुछ शिक्षित, समझदार और विचारशील जागीरदार भी है, जो लोक-सेवा और उन्नति के कामों में अच्छा हाथ बटाते हैं। परन्तु अधिकांश में यह वर्ग देश के लिए अनावश्यक ही नहीं, अहितकर साबित हो रहा है।

राजाओं और सरकार की भावना—जागीरदारी प्रथा से राजाओं की आय में बहुत कमी हो जाती है। इसलिए राज्य में शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा आदि उन्नति के कार्यों के लिए धन की व्यवस्था करने में यह प्रथा बड़ी बाधक है; फिर इस समय देश की बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति में उनके लिए जागीरदारों की सेना आदि की उपयोगिता नहीं रही। इसलिए राजाओं के मन में इस प्रथा को हटाने की भावना पैदा होना स्वाभाविक है। परन्तु एक तो जो राजा स्वयं प्रतिक्रियावादी है, उनमें इसके लिए साहस कम होता है। दूसरे जो राजा कुछ हिम्मत करते हैं, उनके लिए भी जागीरदारों की संगठित शक्ति का विरोध करना कठिन हो जाता है। ग्वालियर राज्य के स्वर्गीय महाराजा माधवराव जी ने अपनी जागीरी पालिसियों में लिखा था कि 'जागीरदारों के साथ ऐसी ढीली और धीमी नीति का पालन करना

चाहिए कि उनके अत्याचारों से प्रजा में दीर्घ असंतोष फैल जाय और उस असंतोष से जागीरदार खुद शान्त हो जायँ।'

ग्वालियर महाराज जैसे शासक का जागीरदारों के बारे में ऐसे विचार रखना यह सूचित करता है कि प्रायः राजागण इनके सुधार के विषय में निराश हैं, और लाचार भी। इधर अंगरेज सरकार की, जागीरदारों के सम्बन्ध में, प्रायः कोई निश्चित नीति नहीं रही। जब वह किसी राजा पर कुछ दवाव डालना चाहती तो वह उसके जागीरदारों की शिकायतों पर ध्यान दे देती। जो राजा उसका कृपाभाजन होता, उसके विरुद्ध वह बहुधा जागीरदारों की फरियाद नहीं सुनती।

जागीरी प्रथा का अन्त होना चाहिए—समय-समय पर कुछ विचारकों ने जागीरी प्रथा की समस्या को हल करने के उपायों के सम्बन्ध में विचार किया है। श्री० कन्हैयालाल जी कलयन्त्री ने इसके लिए निम्नलिखित योजना प्रस्तुत की है:—

१—जागीरदारों के न्याय और शासन सम्बन्धी अधिकार न रहें।

२—जागीरदारों को गोद लेने का अधिकार न हो।

३—उत्तराधिकार प्राप्ति के स्वरूप एक-तिहाई जागीर 'खालसा' की जाय।

४—किसी व्यक्ति को उसके गुण, स्वरूप या दान-पात्र समझ कर दी हुई जागीर उसकी मृत्यु के बाद 'खालसे' में ले ली जाय।

५—मठ या मन्दिरों की जागीरें सार्वजनिक ट्रस्ट के अधीन कर दी जायँ।

६—जागीरदारों से अवैतनिक सम्माननीय सेवा ली जाय; और जो कोई वेतन लेना चाहे वह अपनी जागीर से त्याग-पत्र दे।

७—जागीरदार को स्वतंत्र चुंगी, ज़कात या स्टाम्प-ड्यूटी का अधिकार न हो।

८—गाँव में एक से अधिक जागीरदार होने पर कर वसूल करने की, व्यवस्था रियासत द्वारा नियुक्त मुंसरिम या मुकद्दम आदि करे।

९—किसी जागीरदार के अपराधी ठहरने की दशा में उस पर जुर्माना न कर उसकी जागीर ज़ब्त की जाय।

१०—जागीरों में पंचायत और म्यूनिसपैलटी हों।

११—जनता की शिक्षा, रक्षा, सफाई आदि के लिए जागीरदारों से उनकी आय के अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ कर लिया जाय

तुरन्त ही अमल में लाने के लिए ऐसी योजनाएँ अच्छी हैं, वैसे तो जैसा कि देशी-राज्य-लोक-परिषद ने तय किया है, जागीरदारी प्रथा को समाप्त ही करना है; इस दृष्टि से कानून में आवश्यक सुधार या परिवर्तन किया जाना चाहिए। जब कि एकतंत्री शासन, पूँजीवाद, सामन्तवाद आदि सभी बुराइयों का अन्त करने की तैयारी हो रही है, जागीरदारी प्रथा के रहने के लिए कोई गंजायश नहीं हो सकती।

चौदहवाँ अध्याय

नरेन्द्र मंडल

ब्रिटिश सरकार को राजाओं के संगठन की आवश्यकता— पहले बताया जा चुका है कि सन् १८५७ के बाद प्रायः अंगरेज अधिकारियों की विचार-धारा राजाओं को क्रमशः अपना मित्र और सहायक समझने की हो गयी। लार्ड लिटन (१८७६-८०) की इच्छा थी कि

राजाओं की एक 'प्रिवी कौंसिल' बनायी जाय, जो सम्मिलित हित के विषय पर गवर्नर-जनरल से सलाह-मशविरा किया करे; वह इच्छा पूरी न हुई। केवल कुछ राजाओं को साम्राज्य-सलाहकार का पद मिल गया। लार्ड कर्जन (१८९९-१९०५) को गद्दीधर राजाओं की परिषद ('कौंसिल-आफ रूलिंग प्रिंसेज') बनाने की बड़ी लग्न थी, वह भी पूरी न हो पायी। लार्ड मिंटो ने राजाओं के संगठन का बहुत प्रयत्न किया, उसने पहले साम्राज्य-सलाहकार सभा ('इम्पीरियल एडविजरी कौंसिल') स्थापित करनी चाही, पीछे गद्दीधर नरेशों की साम्राज्य-परिषद ('इम्पीरियल कौंसिल-आफ-रूलिंग प्रिंसेज') बनाने का विचार किया। परन्तु भारत-मंत्री का सहयोग न मिलने से वह सफल न हुआ। पश्चात् लार्ड हर्डिंग ने तो सन् १९१३ और १९१४ में राजाओं की सभाएँ कर ही डालीं, जिनमें उनकी उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में विचार हुआ। यह स्पष्ट है कि देशी राजाओं के सम्बन्ध में सरकार का रुख किस ओर होता जा रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यशाही को भारतवर्ष का राष्ट्रीय आन्दोलन दबा कर अपनी सत्ता अधिक-से-अधिक समय तक बनाये रखने के लिए राजाओं के प्रतिक्रियावादी संगठन की आवश्यकता थी।

राजा भी संगठित होना चाहते थे—कुछ वर्षों से देशी राज्यों के मामलों में सरकार के राजनीतिक विभाग का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था, इसके अलावा रियासतों में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर भी बढ़ रही थी। इसलिए राजा एक ओर तो राष्ट्रीयता-विरोधी मोर्चे में सरकार से सहयोग करके अपने स्वेच्छाचारी शासन की आयु बढ़ाना चाहते थे, दूसरी ओर उन्हें यह भी उम्मीद थी कि जब हम संगठित होकर अपनी सम्मिलित माँग सरकार के सामने रखेंगे तो वह अवश्य ही अपने राजनीतिक विभाग के आघातों से हमारे अधिकारों की रक्षा करेगी।

इस प्रकार राजा भी अपने संगठन के इच्छुक थे, और सरकार भी उनका संगठित होना पसंद करती थी। सन् १९१४ में महायुद्ध छिड़ गया। १९१७ में राजाओं ने अपनी माँग भारत-मंत्री माँटेग्यू और वायसराय चेम्सफोर्ड के सामने रखी, जब कि वे दोनों अधिकारी भारत-वर्ष की भावी शासनपद्धति का विचार कर रहे थे।

मांटा-फोर्ड योजना में देशी राज्य—उन्होंने अपनी रिपोर्ट में राजाओं के सम्बन्ध में बहुत सहानुभूति दिखायी, और उनके संगठन के सम्बन्ध में एक व्यावहारिक योजना उपस्थित की। उन्होंने लिखा था—एक 'नरेश-परिषद्' (कौंसिल-आफ-प्रिंसेज) स्थापित की जाय, जो ऐसे मामलों में सलाह दिया करे, जिनका सम्बन्ध साम्राज्य से अथवा ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों से हो। आम तौर पर इसका अधिवेशन साल में एक बार हो और उसमें वायसराय द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम पर विचार हो। इसका सभापति प्रायः वायसराय हो, और उसकी अनुपस्थिति में कोई राजा सभापति बने। कार्य-संचालन के नियम वायसराय राजाओं की सम्मति लेकर बनाये। इस परिषद् के बन जाने पर ऐसे काम-काज पर कोई प्रभाव न पड़े जो सीधे किसी राज्य और भारत-सरकार के बीच होता रहता है।'

नरेन्द्र मंडल का कार्य और संगठन—इस योजना के फल-स्वरूप सन् १९२१ ई० में नरेन्द्र मंडल (चेम्बर-आफ-प्रिंसेज) नाम की संस्था देहली में कायम हुई। इसके कुल १२१ सदस्य हैं। इनमें से १०९ सदस्य तो उन ११८ राजाओं में से है, जिन्हें तोपों की सलामी, सम्मान प्राप्त है।

इन १०९ सदस्यों के राज्यों के नाम, तथा सलामी की तोपों की स्थायी संख्या निम्नलिखित है:—

(१–५) बड़ौदा, गवालियर, हैदराबाद, जम्मू और कशमीर,
मैसूर, प्रत्येक··· २१

(६–११) भोपाल, इन्दौर, कलात, कोल्हापुर, त्रावंकोर, उदयपुर, प्रत्येक ... १६

(१२–२४) बहावलपुर, भरतपुर, बीकानेर, बूँदी कोचीन, कच्छ, जयपुर, जोधपुर, करौली, कोटा, पटियाला, रीवा, टोंक, प्रत्येक ... १७

(२५–४१) अलवर, बाँसवाड़ा, दतिया, देवास सीनियर, देवास, जूनियर, धार, धौलपुर, डूँगरपुर, ईदर, जैसलमेर, खैरपुर, किशनगढ़, ओरछा, प्रतापगढ, रामपुर, सिक्कम, सिरोही, प्रत्येक ... १५

(४२–५७) बनारस भावनगर, कूचबिहार, ध्रांगधर, जावरा, झालावाड़, झीन्द, जूनागढ़, कपूरथला, नाभा, नवानगर, पालनपुर, पोरबन्दर, राजपीपला, रतलाम, त्रिपुरा, प्रत्येक ... १३

(५८–६८) अजयगढ़, अलीराज, बावनी, बरवानी, बीजावर, बिलासपुर, (कहलूर), केम्बे, चम्बा, चरखारी, छतरपुर, फरीदकोट, गोंडल, जंजीरा, माबुआ, मलेरकोटला, मंडी, मनीपुर, मोरवी, नरसिंहगढ़, पन्ना, पद्दूकोटा, राधनपुर, राजगढ़, सैलाना, समथर, सिरमौर (नाहन), सीतामऊ, सुकेत, टेहरी, (गढ़वाल), प्रत्येक ... ११

(८७–१०६) बालासिनोर, बंगनपल्ले बांसड़ा बरिया, मयूरभंज, छोटा उदयपुर, दाँता, धरमपुर, ध्रौल, जौहर, खिलचीपुर, लिम्बडी, लूनावाड़ा, मैहर, पतलाना, राजकोट, सचिन, सांगली सावंतवाड़ी, वांकानेर, वधवान, सन्त, लोहारू, प्रत्येक ... ९

इन १०६ सदस्यों के अतिरिक्त १२ सदस्य अन्य १२६ राजाओं के प्रतिनिधि हैं। शेष ३४६ राजाओं का इसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं रहा। नरेन्द्रमण्डल देशी राज्यों की (जनता की) प्रतिनिधि-संस्था तो थी भी ही नहीं। मण्डल अपना चांसलर स्वयं चुनता था, जो वायसराय की अनुपस्थिति में उसका सभापति होता था। जनवरी १९२९ तक मण्डल के अधिवेशनों की कार्यवाही गुप्त रखी जाती थी, उसके बाद इसकी सभाएँ सर्वसाधारण के लिए खुली होने लगीं।

मंडल हर साल एक छोटी सी स्थाई समिति बनाता था; इसका सभापति मंडल का चांसलर होता था, और इसकी सभा देहली या शिमला में साल में दो-तीन बार होती थी। समिति हर साल अपनी रिपोर्ट मंडल में उपस्थित करती थी।

संगठन के दोष—हैदराबाद, बड़ौदा और मैसूर आदि के बड़े-बड़े राजाओं ने मंडल के अधिवेशनों में भाग नहीं लिया। छोटे राजाओं के साथ मिलकर काम करना इन्होंने अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा। इसका नतीजा यह हुआ कि मंडल छोटे या मध्य श्रेणी के राजाओं की संस्था रह गयी, जिन्हें मंडल की मेम्बरी के अधिकार का उपयोग करने और मत देने का शौक था। इन राजाओं में भी प्रायः उन्हीं का ज़ोर रहा जो सरकार के विशेष कृपा-पात्र थे।

नरेन्द्र मंडल के चांसलर के पद पर महाराजा बीकानेर, कशमीर, जामनगर, पटियाला, धौलपुर और नवाब भोपाल आदि रहे हैं। चांसलर और वायसचांसलर के पदों के लिए निर्वाचित होने तथा स्थायी समिति के सदस्य बनने के लिए प्रायः दलबन्दी की भावना से काम लिया गया।

चांसलर के चुनाव में राजनीतिक विभाग का भी बड़ा हाथ रहा है। वास्तव में नरेन्द्र मंडल की बागडोर राजनीतिक विभाग के ही हाथ में रही; जिस राजा पर इस विभाग की कृपादृष्टि रही, उसी को

चांसलर बनने में सफलता मिली। राजनीतिक विभाग का सेक्रेटरी ही नरेन्द्रमंडल का सेक्रेटरी रहा। हैदराबाद, त्रावणकोर, मैसूर और बड़ौदा आदि के बड़े बड़े राजा इस संस्था से अलग रहे। उन्होंने तो भी नरेन्द्र मंडल ने आमतौर पर सब रियासतों की ओर से बोलने का दावा किया। उसने यह सिद्धान्त भी स्वीकार नहीं किया कि मंडल के बहुमत का निर्णय सब राजा लोग मानें।

राजाओं के ही हित का विचार—नरेन्द्रमंडल ने खासकर राजाओं के ही हित की बात सोची, जनता की भलाई का विचार नाममात्र को ही किया। सन् १९२० से ब्रिटिश भारत में मांटफोर्ड सुधार अमल में आने से राजाओं को यह आशंका होने लगी थी कि थोड़े-बहुत समय में भारत-सरकार भारतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदाई हो जायगी तो वह देशी राज्यों के सम्बन्ध में भारतीय जनता की इच्छानुसार ही कार्य करेगी, फिर हमारी स्वेच्छाचारिता या खुदमुख-तारी न चल सकेगी। नरेशों को एक और भी चिन्ता थी। पिछले वर्षों में सर्वोच्च सत्ता ने भी अपना कठोर स्वरूप दिखाया था। बरार के प्रसंग में निज़ाम हैदराबाद और वायसराय में जो पत्र-व्यवहार हुआ, उसमें लार्ड रीडिंग ने स्पष्ट कर दिया था कि 'ब्रिटिश सरकार का भारतवर्ष में पूर्ण प्रभुत्व है और देशी राज्य का कोई शासक उससे बराबरी के नाते बातचीत करने का दावा नहीं कर सकता। यह प्रभुत्व ब्रिटिश सरकार को संधि-पत्रों या सनदों से प्राप्त नहीं हुआ है, वरन् उससे जुदा है।" इससे राजाओं के कान खड़े हो गये। ये इस बात का आन्दोलन करने लगे कि हमारी संधियाँ तो सीधे सम्राट् से हुई हैं, भारत-सरकार से नहीं। इस लिए यदि भारतवर्ष में कोई शासन सम्बन्धी परिवर्तन हो तो हमारा सम्बन्ध सीधा सम्राट् से बने रहना चाहिए; इसमें कोई अन्तर न आए। अंगरेज राजनीतिज्ञ भी तो यही चाहते थे, अतः उन्होंने राजाओं का समर्थन किया और पीछे जब सन् १९२७

में ब्रिटिश भारत के शासन-सुधारों के सम्बंध में जाँच करने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त हुआ तो देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार के आपसी सम्बन्ध का विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गयी, जिसे उसके सभापति के नाम पर 'बटलर कमेटी' कहते हैं।

राजाओं ने सोचा कि न-मालूम यह कमेटो कैसी सिफारिशें करदे। उन्हों ने बेहद फीस देकर एक अंगरेज वकील सर लेस्ली स्काट को ब्रिटिश सरकार के सामने राजाओ का दृष्टिकोण पेश करने के लिए भेजा।

बटलर कमेटी की सिफारशें—बटलर कमेटी की रिपोर्ट में तीन बातें मुख्य हैं :—

(१) इस कमेटी ने सर्वोच्च सत्ता के विरुद्ध राजाओं का कोई दावा स्वीकार नहीं किया, उसने उसके अधिकारों को सर्वोपरि बतलाया और स्पष्ट कह दिया कि देशी राज्यों का कोई अन्तर्राष्ट्रीय या स्वाधीन पद नहीं है। उन्हें विविध संधियों या प्रथा के अनुसार परिमित आन्तरिक शासन के अधिकार हैं। संधियों में विविध कारणों से परिवर्तन हुआ है, और भविष्य में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हो सकता है।

(२) आर्थिक सम्बन्ध के प्रसंग में कमेटी ने देशी राज्यों रेल, खान, मुद्रा, नमक, डाक, तार, बेतार-का-तार, टेलीफोन, अफीम और आबकारी सम्बन्धी माँग अधिकतर अस्वीकार की। केवल आयात-निर्यात-कर से होनेवाली आय का एक भाग उन्हें दिया जाना स्वीकार किया, पर इसमें भी यह शर्त रखी कि देशी राज्य सरकार को उस कर सम्बन्धी कार्य करने के लिए आवश्यक धन दें। कमेटी ने इस बात की पूरी जाँच किये जाने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाने की सिफारिश की।

(३) कमेटी ने कहा कि देशी राज्यों की संधियाँ सीधे सम्राट् से हैं, अतः सर्वोच्च सत्ता को देशी राज्यों के शासकों की सम्मति

के बिना अपना अधिकार ब्रिटिश भारत की उस नयी सरकार को न सौंपना चाहिए, जो भारतीय व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई हो। भविष्य में देशी राज्यों का सम्बन्ध भारतसरकार से न होकर सम्राट्-प्रतिनिधि (वायसराय) से रहा करे।

कमेटी की तीसरी बात भारतवर्ष में राजनीतिक फूट डालनेवाली, और यहाँ की शक्ति कम करनेवाली थी। संधियों के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

नरेन्द्र मण्डल और ब्रिटिश सरकार—ब्रिटिश सरकार राजाओं को अपने साम्राज्य के समथक और सहायक के रूप में काम में लाती रही। नरेन्द्र मण्डल की ओर से राजाओं को साम्राज्य-परिषद या राष्ट्र-सङ्घ में भेजकर उसने उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी आवाज़ बुलन्द की। जहाँ तक उसके स्वार्थ में बाधा न आई, उसने कभी-कभी रियासतों में कुछ सुधार करने का भी विचार किया। उसकी एक योजना काठियावाड़ के छोटे राज्यों को बड़े राज्यों में मिलाने की थी। नरेन्द्र मण्डल चाहता था कि यह योजना उसकी इच्छानुसार काम में लाई जाय। वायसराय ने यह स्वीकार न किया। इससे राजा लोग बहुत असंतुष्ट रहे। अजमेर के चीफ-कोर्ट द्वारा भी योजना का सिद्धान्त अनियमित ठहराया गया। इस पर मार्च १९४४ में ब्रिटिश पार्लिमेंट ने 'अटेचमेन्ट-आफ-स्टेट्स' नाम का कानून बनाया, जिसने सम्राट्-प्रतिनिधि को यह अधिकार दिया कि वह निर्धारित श्रेणियों की छोटी रियासतों को उनके पड़ोस की बड़ी रियासतों में मिला सके। इस कानून का उपयोग नहीं किया गया, पर इससे नरेन्द्र मंडल की वायसराय से बहुत नाराज़ी रही। ब्रिटिश सरकार की दूसरी योजना यह थी कि न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, और पुलिस आदि की सुव्यवस्था के लिए छोटे छोटे राज्यों के समूह बना दिये जाँय। इसके सम्बन्ध में नरेन्द्र मण्डल के चांसलर ने वायसराय से कुछ माँगें कीं।

उसका जवाब राजाओं को सन्तोषजनक नहीं मालूम हुआ।

राज्यों के अर्थिक हितों और युद्धोत्तर पुनर्रचना के विषय में, तथा संधियों से मिलनेवाले अधिकारों के बारे में भी वायसराय और राजाओं में मतभेद रहा। अन्त में मंडल के चांसलर, वायसचांसलर, और स्थाई समिति के सब सदस्यों ने एकसाथ इस्तीफा दे दिया और मंडल का दिसम्बर १९४४ में होनेवाला अधिवेशन स्थगित हो गया। यह तनातनी साल भर चली। पीछे वायसराय से कुछ आश्वासन पाने पर मंडल की स्थाई समिति ने इस्तीफे वापिस ले लिये और मंडल का अधिवेशन होने की व्यवस्था होगयी।

एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव और उसकी उपेक्षा—जनवरी १९४६ में, मंडल के प्रस्ताव में कहा गया कि सब रियासतों में तुरन्त विधान तैयार किया जाना चाहिए; हर जगह ऐसी लोक-सभा या व्यवस्थापक सभा स्थापित होनी चाहिए। जिसमें जनता द्वारा चुने हुए सदस्यों का बहुमत हो। सब राज्यों में कानून के अनुसार शासन और लोगों के जान-माल की रक्षा की गारंटी होनी चाहिए। कानून की दृष्टि में सब व्यक्तियों की समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, भाषण स्वतंत्रता, और मिलने-जुलने की स्वतंत्रता की घोषणा की जानी चाहिए। इसी प्रकार न्याय, टेक्स आदि के विषय में भी उचित और लोकसत्तानुकूल व्यवस्था करने की सलाह दी गयी। नरेन्द्र मंडल ने अपने प्रस्ताव में यह भी सिफारिश की कि इन बातों को तुरन्त अमल में लाया जाय, इसमें देर न की जाय।

खेद है कि इस प्रस्ताव के अनुसार प्रायः कुछ भी कार्य नहीं हुआ। स्वयं भोपाल और बीकानेर में जहां के शासकों ने मंडल के प्लेटफार्म से बढ़-बढ़कर बातें की, जनता नागरिक अधिकारों से बुरी तरह वंचित रही। कितनी ही रियासतों में जब प्रजामंडल या लोकपरिषद आदि संस्थाओं ने कुछ आन्दोलन किया तो उनके कार्यकर्ताओं को

अधिकारियों का बहुत क्रोध और अप्रसन्नता सहनी पड़ी; साम, दाम, दंड, भेद सभी उपायों से राजनीतिक आन्दोलन को पनपने से रोका गया। आखिर, जनता ने यह अनुभव किया कि इस दुर्दशा को दूर करने का एक ही उपाय है—उत्तरदाई शासनपद्धति जारी होना, और वह इसके वास्ते प्रयत्न कर रही हैं।

विशेष वक्तव्य—जून १९४६ में भारतवर्ष के लिए विधान-सभा की योजना हुई। देशी राज्यों को उनको सार्वभौम सत्ता वापिस की जाने बात कही गयी और उनके विधान-सभा में सम्मिलित होने या न होने प्रश्न उपस्थित हुआ। नरेन्द्र मंडल के चांसलर इस समय नवाब भोपाल थे। उन्होंने, मुसलिम लीग की ओर झुकाव रखने के कारण, यह चाहा कि राजा लोग अभी विधान-सभा में शामिल होने का निर्णय न करें। तो भी कुछ राजा उसमें शामिल हो ही गये। नवाब भोपाल ने अपनी बात चलती न देख नरेन्द्र मंडल की चांसलरी से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने जून १९४७ में कुछ अन्य राजाओं सहित नये चांसलर-महाराजा पटियाला को पत्र लिख कर यह मत सूचित किया कि नयी परिस्थियों में नरेन्द्र मंडल, जैसा कि यह इस समय है, राजाओं की उन्नति के लिए उपयोगी नहीं रहा है, इसलिए इसे समाप्त कर दिया जाना चाहिए। पीछे मंडल ने ऐसी योजना बनायी कि १५ अगस्त १९४७ तक अपना कार्य समेट ले।

अब नरेन्द्र मंडलकी जगह रियासतों की दो संस्थाएँ काम करेंगी! एक उन रियासतों के लिए जो भारतीय यूनियन में शामिल होना चाहती हैं, और दूसरी जो उन रियासतों के लिए पाकिस्तान में रहना चाहती हैं। अस्तु, अपने २५ वर्ष के जीवन में नरेन्द्र मंडल ने जनता का कोई हित नहीं किया। यह संस्था एक आडम्बर मात्र रही, जिसके खर्च के लिए जनता को लाखों रुपये का भार सहना पड़ा।

पन्द्रहवाँ अध्याय

कांग्रेस और देशी राज्य लोक परिषद्

'परिषद और काँग्रेस की दो गाड़ियाँ, जो शुरू में अलग-अलग रास्ते चल रही थीं, बाद में साथ-साथ चलने लगीं, और अन्त में दोनों एक गाड़ी में बदल गयीं।

—डा० पट्टाभि सीतारामैय्या

खासकर देशी राज्यों के विषय में काम करनेवाली प्रमुख संस्था अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद है। तथापि पूरे भारतीय राष्ट्र के उत्थान का उद्देश्य रखनेवाली कांग्रेस है। यह उनसे बहुत पहले की है, और इसने भी देशी राज्यों की प्रगति में अच्छा भाग लिया है। इस अध्याय में इन दोनों संस्थाओं के देशी राज्यों सम्बन्धी कार्य का परिचय दिया जाता है।

कांग्रेस और देशी राज्य—भारतवर्ष की राष्ट्रीय महासभा की स्थापना सन् १८८५ में हुई। उसने अपने साधनों और परिस्थिति के अनुसार देश के उत्थान में भरसक योग दिया है, और सारे देश के लिए बोलने और लड़ने का दावा किया है। तथापि वह अपने जीवन के शुरू के पैंतीस वर्ष तक रियासती समस्याओं को अपनी कार्य-सीमा से बाहर रखती रही। १९२० से पहले उसने केवल दो बार, १८९४ में और १८९६ में, इस विषय की चर्चा की, और वह सिर्फ राजाओं से सहानुभूति दिखानेवाली थी। रियासती जनता के आन्दोलनों में उसका सहयोग तो क्या, स्पष्ट रूप से सहानुभूति भी न थी। इस प्रकार रियासती कार्यकर्ताओं को अपने ही बल पर निर्भर रहना पड़ता और उनकी शक्ति और संगठन में यथेष्ट वृद्धि न हो पाती थी। धीरे-धीरे कांग्रेस यह तो अनुभव करने लगी कि देशी राज्य भारत की

स्वतन्त्रता-प्राप्ति में बाधक है, परन्तु वह इस बाधा को दूर करने की, या रियासती कार्यकर्ताओं को मदद देने की योजना अपने हाथ में न ले सकी।

सन् १९२० तक राजपूताना, मध्यभारत, गुजरात, काठियावाड़ और दक्षिण की रियासतों में आन्दोलन, और रियासती जनता के कई संगठन हो चुके थे। उनसे प्रभावित होकर नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने राजाओं से अपने-अपने राज्य में प्रतिनिधि-शासन स्थापित करने की अपील की। तथापि कांग्रेस का प्रत्यक्ष आन्दोलन खासकर ब्रिटिश भारत की समस्याओं तक सीमित रहा। परन्तु पड़ोसी प्रान्तों की राजनीतिक जागृति का प्रभाव रियासती जनता पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। उसमें अपने संकटों और शासकों के अत्याचारों से मुक्ति पाने की भावना बढ़ती गयी। रियासती कार्यकर्ताओं के त्याग और सेवा-कार्य का ही यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस देशी राज्यों के मामलों में अधिकाधिक ध्यान देने को बाध्य हुई। परन्तु वह देशी राज्यों की जनता की विविध राजनीतिक समस्याओं को हल करने के के काम को अपने खास कार्य का अंग बनाने के लिए तैयार न हुई। सन् १९२७ से कांग्रेस देशी राज्यों के बारे में अधिकाधिक अनुराग लेने लगी। इसका विशेष विचार करने से पहले अ० भ० देशी राज्य लोक परिषद की स्थापना और उसके कार्यों का परिचय दिया जाना आवश्यक है।

देशी राज्य लोक परिषद—सन् १९२० तक कितने ही राज्यों में लोक-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थी। इसके अलावा कुछ संस्थाएँ ऐसी भी बन गयी थीं, जिनका कार्यक्षेत्र कोई एक विशेष रियासत न होकर कई-कई रियासतों का एक समूह था। इन संस्थाओं के अधिवेशन यथा-सम्भव प्रति वर्ष प्रायः कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर, ब्रिटिश भारत में होते रहे। धीरे-धीरे यह आवश्यकता प्रतीत होने

लगा कि जनता की देशी राज्यों सम्बन्धी कोई केन्द्रीय संस्था स्थापित हो। सन् १९२० में राजपूताना-मध्यभारत सभा ने अ० भा० देशी राज्य सम्मेलन किया। और भी कई प्रयत्न हुए। अन्त में सन् १९२७ ई० में जब कि भारतीय शासन सुधार सम्बन्धी जाँच करने के लिए ब्रिटिश सरकार से नियुक्त साइमन कमीशन यहाँ आनेवाला था, श्री० अमृतलाल सेठ तथा उनके सहयोगियों के उद्योग से अखिल भारत-वर्षीय देशी राज्य लोकपरिषद की स्थापना की गयी। यद्यपि कुछ अन्य संस्थाओं ने भी अखिल भारतवर्षीय स्वरूप धारण करने का प्रयत्न किया था, अन्त में उनका इससे समझौता हो गया, और उनका कार्य क्षेत्र सीमित रह गया।

इस परिषद का पहला अधिवेशन १९२७ ई० में बम्बई में हुआ। इसमें सत्तर से अधिक देशी राज्यों के आठ सौ से अधिक प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। परिषद ने अपने प्रस्तावों में बतलाया कि देशी राज्यों के शासन-प्रबन्ध में क्या क्या बुराई है, उनके सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति कहाँ तक दूषित है, तथा देशी राज्यों में क्या-क्या सुधार होने चाहिएं।

परिषद को लगभग बीस वर्ष तक अपने अधिवेशनों के लिए ब्रिटिश भारत का ही स्थान निश्चित करना पड़ा। कोई देशी राज्य ऐसा 'उदार' नहीं हुआ कि परिषद के भाषणों में की जानेवाली देशी राज्यों की आलोचना को सहन कर सके। जिन राज्यों में थोड़ी-बहुत भाषण-स्वतंत्रता थी, उन्होंने भी वक्ताओं को दूसरे राज्यों की खरी आलोचना का अवसर देकर उन राज्यों से अपने 'मधुर' सम्बन्ध बिगाड़ने का साहस नहीं किया। परिषद के पहले अधिवेशन की बात ऊपर कही जा चुकी है। दूसरे अधिवेशन (सन् १९२९) तथा इसके बाद के अधिवेशनों में परिषद ने भारतीय संघ शासन योजना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये और बतलाया कि अखिल भारतीय संघ

बनाना बहुत उत्तम है, पर उसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें रियासती प्रजा को भी उतने ही अधिकार प्राप्त हों जितने कि ब्रिटिश भारतीय प्रजा को; संघीय व्यवस्थापक मडल के रियासती प्रतिनिधियों का चुनाव जनता के द्वारा ही हो, राजाओं के द्वारा नहीं।

उद्देश्य और लक्ष्य—परिषद् के अन्य साधारण या विशेष अधिवेशनों के सम्बन्ध में यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। वे समय-समय पर होते रहे, और उनमें देशी राज्यों सम्बन्धी विविध नागरिक और राजनीतिक विषयों पर विचार हुआ। रियासती प्रजा के कष्ट-निवारण का आन्दोलन करने के अतिरिक्त इसका उद्देश्य उनमें संगठन और स्वाभिमान की भावना बढ़ाना तथा विविध राज्यों के आन्दोलनों का पथ-प्रदर्शन करना और जनता की आवश्यकताओं तथा दृष्टिकोण को कांग्रेस एवं ब्रिटिश अधिकारियों के सामने रखते रहना है। इसका लक्ष्य सन् १९२७ में यह निश्चित किया गया था—'देशी राज्यों की जनता के लिए, प्रतिनिधि-संस्थाओं द्वारा, राजाओं की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना।' सन् १९३१ में उद्देश्य 'देशी राज्यों की जनता के लिए समस्त वैध और शान्त उपायों द्वारा पूर्णतया उत्तरदायी और प्रजातंत्रात्मक शासन प्राप्त करना' रखा गया। उद्देश्य की शब्दावली का परिवर्तन और विशेषतया 'राजाओं की छत्रछाया में' इन शब्दों का निकाला जाना जनता के भावों और विचारों की दिशा सूचित करता है। सन् १९३९ में तो और भी प्रगति की सूचना दी गयी। यह निश्चय किया गया कि परिषद का लक्ष्य राज्यों की जनता द्वारा समस्त वैध और शान्त उपायों से स्वतन्त्र भारतीय संघ के अंग होकर, पूर्ण उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है।

स्थाई समिति—परिषद की एक स्थाई समिति है। उसका कार्यालय पहले बम्बई में था, पीछे वर्धा में रहा, अब वह देहली में

है। समिति समय समय पर देशी राज्यों सम्बन्धी आवश्यक कार्य करती है। देशी राज्यों में नागरिक अधिकारों की कितनी कमी है, वहाँ जाकर सार्वजनिक सभा करने, व्याख्यान देने, या अधिकारियों के विरुद्ध जाँच करनेवालों को प्रायः कैसे अमानुषिक कष्ट दिये जाते हैं, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। समिति के कार्यकर्ता अनेक आर्थिक, शारीरिक तथा अन्य कठिनाइयों को सहन करते हुए इन कामों में लगे हैं।

परिषद् के कार्य—परिषद् ने अब तक जो विविध कार्य किये हैं, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं:—

१—सन् १९२७ ई० बटलर कमेटी देशी राज्यों की जाँच करने के लिए बनायी गयी थी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके तीनों सदस्य अंगरेज थे। परिषद ने इस कमेटी के सङ्गठन, विचारणीय विषयों तथा कार्यपद्धति के विरुद्ध प्रचार किया। इसने कमेटी को एक याददाश्त (मेमोरेंडम) दी, तथा अपना एक डेप्युटेशन इंगलैंड भेजकर ब्रिटिश जनता में आन्दोलन किया।

२—परिषद ने देशी राजाओं के इस सिद्धान्त के विरुद्ध प्रचार किया कि राजाओं का सम्बन्ध भारत-सरकार से न होकर सीधे सम्राट् है।

३—परिषद ने भारतीय शासन-विधान की नयी रूप-रेखा का विचार करनेवाली गोलमेज सभाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की चेष्टा की।

४—पटियाला नरेश के विरुद्ध प्राप्त शिकायतों की खुली जाँच की माँग की; वह माँग पूरी न होने पर उसने जाँच कराने के लिए अपनी ओर से एक कमेटी नियुक्त की; इस कमेटी की रिपोर्ट* प्रकाशित करायी और इसकी स्वतंत्र जाँच के लिए आन्दोलन किया।

---

*Indictment of Patiala.

इसी प्रकार उड़ीसा के राज्यों की जाँच करके उनके सम्बन्ध में खुलासा रिपोर्ट छपायी। इसके अलावा परिषद ने नवानगर, बीकानेर, झाबुआ, रतलाम, और लिम्बडी आदि राज्यों की दुर्दशा के सम्बन्ध में आंकड़े और सामग्री तथा हैदराबाद, मैसूर और कशमीर आदि के विषय में पुस्तिकाएँ प्रकाशित करायीं। सन् १९३८ ई० से सन् १९४२ तक 'दि स्टेट्स पीपल' नाम का अंगरेजी सामयिक पत्र भी परिषद की ओर से प्रकाशित हुआ।

५—खासकर सन् १९३५ से देशी राज्यों के भीतर काम करने की ओर ध्यान दिया जाने लगा। परिषद के पदाधिकारियों ने भिन्न-भिन्न राज्यों में दौरा करके जनता में जागृति उत्पन्न की, तथा राजाओं से शासन-सुधार कराने के लिए भेंट की, और जगह-जगह प्रजामंडल आदि अपनी शाखा-परिषदें स्थापित कीं। ये परिषदें अपनी स्थानीय तथा प्रादेशिक आवश्यकताओं की ओर यथाशक्ति ध्यान दे रही हैं।

६—लुधियाने के अधिवेशन (१९३९) में परिषद ने छोटे छोटे राज्यों को बड़े प्रान्तों में मिलाने का प्रस्ताव किया। उसने निश्चय किया कि भविष्य में वे ही रियासतें रहें, जिनकी जनसंख्या बीस लाख से अधिक अथवा वार्षिक आय पचास लाख रुपये से अधिक हो। पीछे और अनुभव और जाँच के बाद (सितम्बर सन् १९४६ में) परिषद की स्थाई समिति ने यह मत प्रकट किया कि आम तौर से संघ की इकाई होने के लिए ऐसी ही रियासतें ठीक रहेंगी, जिनकी आबादी लगभग पचास लाख और सालाना आमदनी लगभग तीन करोड़ रुपये हो।

योरपीय महायुद्ध—सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध इस देश को

† खेद है, परिषद का सब प्रकाशन अंगरेजी में होता रहा है। जनता में प्रचार करने लिए भारतीय भाषाओं में, विशेषतया राष्ट्र-भाषा में काम करने की आवश्यकता थी। अब परिषद का हिन्दी भाषा में काम करने का विचार है।

भी युद्ध में घसीट लिया। इस अवसर पर राजाओं ने अपना धन, सेना और साधन सरकार के सुपुर्द कर दिये। कितने ही राज्यों ने युद्ध की आड़ में अपने यहाँ नागरिक स्वतन्त्रता एकबारगी ही समाप्त कर दी तथा वे शासन-सुधार भी स्थगित कर दिये जिनके लिए पहले वचन दिया जा चुका था। उन्होंने प्रजा का घोर दमन करना शुरू कर दिया। इस पर परिषद की स्थाई समिति ने राजाओं की नीति रीति के विरोध में प्रस्ताव पास किया। कांग्रेस की तरह उसने भी निश्चय किया कि ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध और शान्ति के उद्देश्य स्पष्ट कर दे। उसने अपने वक्तव्य में राजाओं को यह घोषित करने के लिए कहा कि उन्हें अपने राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्वीकार है और वे उसे निकट भविष्य में अधिक-से-अधिक सम्भव रूप में कार्यरूप में परिणत करने को तैयार हैं। परिषद ने मांग की कि दमनकारी व्यवस्था हटाकर व्यापक स्वतन्त्रता चलने दी जाय।

क्रिप्स योजना और लोकपरिषद्—सन् १९४२ में परिषद की स्थाई समिति ने एक सविस्तर प्रस्ताव में कहा कि क्रिप्सयोजना में ब्रिटिश सरकार और देशी राजा केवल इन दो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, और रियासती प्रजा की, जिसकी संख्या नौ करोड़ है, उपेक्षा की गयी है। यह योजना देशी राज्य तथा समस्त भारतवर्ष दोनों की स्वाधीनता में चोट पहुँचाने वाली है। समिति देशी राजाओं के अथवा किसी भी बाहरी सत्ता के ऐसे अधिकारों को मंजूर नहीं कर सकती, जो भारतवर्ष की आजादी के मार्ग में बाधक होंगे। ब्रिटिश सरकार की सन्धियों की दलील का खंडन करके यह घोषित किया गया कि रियासतों के प्रजाजनों की यह माँग है कि स्वयम्-निर्णय-सिद्धान्त के अनुसार उन्हें विधान के निर्माण तथा उसके व्यवहार के प्रत्येक कदम पर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा अपने भाग्य के निर्णय करने का अधिकार हो। इसके बिना, उनके सम्बन्ध में बनायी गयी किसी व्यवस्था को वे मानने को

बाध्य न होंगे।

राष्ट्रीय आन्दोलन—परिषद् देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में ब्रिटिश भारतीय कार्यकर्त्ताओं के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर भाग लेती रही है। सन् १६३० तथा उसके बाद के सत्याग्रह में परिषद के सभी प्रमुख कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया। बीच में, गांधी-इर्विन समझौते के अनुसार जब म० गांधी कांग्रेस की ओर से भारतवर्ष के प्रतिनिधि के रूप में, गोलमेज कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने के लिए लन्दन गये तो परिषद ने भी उन्हें ही अपना प्रतिनिधि स्वीकार किया।

अगस्त १६४२ में 'अंगरेजो! भारत छोड़ो' देश व्यापी आन्दोलन आरम्भ हुआ। कई देशी राज्यों की जनता ने उसमें भाग लिया, प्रजा-मंडलों ने राजाओं से कहा कि वे ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध विच्छेद करदें। इस पर इन राज्यों में जो घोर दमन हुआ, उसे रियासती जनता ने धैर्य और दृढ़ता से सहन किया।

उदयपुर अधिवेशन—जनवरी १६४६ के उदयपुर अधिवेशन में परिषद ने अपनी स्थाई समिति के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि रियासतें स्वतंत्र और संघ-बद्ध भारत के अंग के रूप में रहें और उनमें पूर्ण उत्तरदायी शासन हो। भावी विधान बनानेवाली सभा में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही भेजे जायँ और इनका चुनाव वैसे ही व्यापक मताधिकार के आधार पर हो, जैसा कि इस समय प्रान्तों में है। और, इन प्रनिनिधियों को वही अधिकार और प्रतिष्ठा हो, जो प्रान्तों के प्रतिनिधियों को हो।

उदयपुर अधिवेशन ने परिषद से लगभग ७० रियासती संगठनों का सम्बन्ध जोड़ दिया, जिनके सदस्यों की संख्या करीब दस लाख होने का अनुमान है। आशा है, क्रमशः अन्य संगठनों का भी परिषद से सम्बन्ध हो जायगा और कोई संगठन परिषद से बाहर न रहेगा।

परिषद् का विधान और संगठन—उदयपुर अधिवेशन में परि-

षद् का नया विधान मंजूर किया गया। उसके अनुसार देशी राज्यों को १४ प्रादेशिक क्षेत्रों में बांटा गया था, [अब पाकिस्तान राज्य बन जाने पर सम्भव है, इसमें कुछ परिवर्तन किया जाय] :—

(१) कशमीर और जम्मू (पश्चिमोत्तर सीमा की रियासतों सहित);
(२) हैदराबाद,
(३) बड़ौदा, और गुजरात के राज्य,
(४) मैसूर, बंगनपल्ली और संदूर;
(५) मध्यभारत के राज्य, बनारस, रामपुर;
(६) त्रावंकोर, कोचीन, पद्दुकोटा;
(७) उड़ीसा के राज्य, बस्तर, मध्यप्रान्त के राज्य;
(८) मनीपुर, कूचबिहार और त्रिपुरा;
(९) दक्षिण के राज्य (महाराष्ट्र और कर्नाटक में);
(१०) पंजाब के राज्य;
(११) हिमालय पहाड़ी राज्य;
(१२) बलोचिस्तान राज्य (कलात, खरा, लसबेला) और खैरपुर;
(१३) कठियावाड़ राज्य (कच्छ सहित);
(१४) राजपूताने की रियासतें।

इन क्षेत्रों में से प्रत्येक में परिषद की अलग-अलग प्रादेशिक कौंसिल होंगी, जिसमें एक लाख आबादी पीछे एक प्रतिनिधि चुना जायगा। परिषद की एक जनरल कौंसिल भी रहेगी, जिसका चुनाव प्रादेशिक कौंसिलों के सदस्यों द्वारा होगा। परिषद की स्थाई समिति को अध्यक्ष नामज़द करेंगे।

कांग्रेस की रियासतों सम्बन्धी नीति—रियासती आन्दोलन से कांग्रेस की सहानुभूति क्रमशः बढ़ती रही है। सन् १९२७ तक कांग्रेस-विधान में एक धारा यह थी कि देशी राज्यों को निर्वाचनों में शामिल करने का यह अर्थ न समझा जाय कि कांग्रेस उनके भीतरी मामलों में

हस्तक्षेप कर सकती है। यह निषेधात्मक धारा सन् १९२८ में कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर हटायी गयी। उसी साल एक प्रस्ताव में देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन और नागरिकता के मूल अधिकारों की आवश्यकता को दोहराते हुए देशी राज्यों की जनता को, पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के उचित संघर्ष में कांग्रेस की सहानुभूति और समर्थन का आश्वासन दिया गया। इसके बाद कांग्रेस देशी राज्यों के सम्बन्ध में कभी तो काफी तेज चलती हुई मालूम हुई और कभी कुछ पीछे कदम रखती दिखायी दी। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस की प्रायः यह नीति रही है कि देशी राज्यों के जन-आन्दोलनों का पूरी जिम्मेदारी वहाँ के ही नागरिक अपने ऊपर लें; कांग्रेस यथा-सम्भव रियासतों के अन्दरूनी मामलों से दूर रहे, उसे जो सुधार कराना है, वह वहाँ प्रजामंडलों द्वारा ही कराए। अगर किसी राज्य में कांग्रेस कमेटी भी हो तो वह सिर्फ रचनात्मक कार्य करे। महात्मा गांधी इसी प्रकार के विचार जाहिर करते रहे है।

देशी राज्यों के भावी शासन के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति यह है कि वह केवल ऐसा ही सघ स्वीकार कर सकती है, जिसमें रियासतें बहुत-कुछ स्वावलम्बी इकाइयों के रूप में शामिल हों और उन्हें शेष भारत के बराबर लोकतन्त्री स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

कांग्रेस और लोक-परिषद् का सहयोग—अपने अध्यक्षों के रूप में, परिषद को सर्वश्री दीवान बहादुर सर रामचन्द्र राव, सी० वाई० चिन्तामणि, रामानन्द चेटर्जी, एन० सी० केलकर, डा० पट्टाभि सीतारामैया, और जवाहरलाल जी नेहरू आदि विद्वानों और नेताओं की सेवाएँ प्राप्त हुई हैं। महात्मा गांधी का, जो सन् १९१९ से कांग्रेस के प्रमुख सूत्रधार रहे हैं, देशी राज्यों से और उनकी जनता के आन्दोलन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। श्री० जवाहरलाल जी नेहरू, डा० पट्टाभि सीतारामैया, आचार्य नरेन्द्रदेव, और सरदार पटेल आदि

प्रमुख कांग्रेस-नेता देशी राज्यों के विषय में यथेष्ट मार्ग-प्रदर्शन करते रहे हैं। इन सबके उद्योग, जनता के आन्दोलन, अथवा समय के प्रवाह को देखकर कुछ राजाओं ने उत्तरदायी शासन की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखायी है। औंध और कोचीन आदि कुछ राज्यों ने इस दिशा में अच्छा कदम उठाकर दूसरों के लिए अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। पिछले दिनों में कांग्रेस सूत्रधारों ने विविध देशी राज्यों के आन्दोलन का नेतृत्व किया। इससे लोक-परिषद कांग्रेस के बहुत निकट आयी; यहाँ तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू सन् १६४५ में एक-साथ कांग्रेस और लोकपरिषद दोनों के सभापति रहे।

रियासतों में कांग्रेस संगठन--कुछ समय से यह मत प्रकट किया जा रहा है कि देशी राज्यों में काम करनेवाले प्रजा मंडल या स्टेट कांग्रेस अब राष्ट्रीय महासभा के अन्तर्गत काम किया करें। नई परिस्थितियों को लक्ष्य में रखकर कांग्रेस-विधान में ही एक परिवर्तन यह भी करने का विचार हो रहा है कि कांग्रेस देशी राज्यों को अपना कार्यक्षेत्र बना दे और प्रजामंडल या स्टेट कांग्रेस उसी में मिला दिये जायँ। अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद का भी समावेश कांग्रेस में हो जाय। अभी तक केवल रचनात्मक कार्यक्रम के अतिरिक्त कांग्रेस रियासतों से दूर रही थी, आशा है, अब रियासतों में कांग्रेस-सङ्गठन की स्थापना पर किसी प्रकार की आपत्ति न होगी।

सोलहवाँ अध्याय

नया विधान और देशी राज्य

हमारी निगाहें पीछे की ओर न मुड़ें। आज हम सुदूर स्वर्ण भविष्य के दर्शन करने में समर्थ हों। इसी में हमारा, हमारे देश का, हमारे नरेन्द्रों का, और समूची मानवता का कल्याण है।

—बालकृष्ण शर्मा

दूसरे योरपीय महायुद्ध के बाद एक प्रकार से प्रजातंत्र की जीत हुई। इङ्गलैंड में मजदूर दल की विजय हुई। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मज़दूर दल की पर-राष्ट्र नीति और भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन के फल-स्वरूप इंगलैंड को अपनी भारत-सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

मंत्रिमिशन योजना—सन् १९४६ में ब्रिटिश सरकार की ओर से इंगलैंड के तीन मंत्री यहाँ आये और भारतीय नेताओं से विचार-विनिमय करने के बाद उन्होंने १६ मई १९४६ को भावी विधान बनाने के लिए एक विधान-सभा के संगठन की योजना बनायी, पर विधान की रूप-रेखा के बारे में अपनी ओर से कुछ सिफारिशें भी कर दीं, जैसे

(१) एक अखिल भारतीय यूनियन या संघ होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। उसके अधीन ये विषय रहने चाहिए—विदेशी मामले, रक्षा और यातायात।

(२) संघ में एक शासन-परिषद और व्यवस्थापक सभा हो, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि रहें। व्यवस्थापक सभा में कोई महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक मामला पेश होने पर उसका निर्णय करने के लिए दोनों प्रमुख वर्गों (हिन्दू और मुसलिम) के जो प्रतिनिधि उपस्थित हों, उनका अलग-अलग तथा दोनों का मिलकर बहुमत आवश्यक होगा।

(३) देशी राज्य उन सब विषयों और अधिकारों को अपने अधीन रखेंगे, जिन्हें वे केन्द्र को सुपुर्द नहीं कर देंगे।

(४) संघ के लिए निर्धारित विषयों को छोड़कर शेष सब अधिकार प्रान्तों को होंगे।

(५) प्रान्तों को अपना अलग-अलग समूह बनाने का अधिकार होगा, जिसकी शासन-परिषद् और व्यवस्थापक सभा होगी। प्रत्येक प्रान्त-समूह यह तय करेगा कि कौन-कौन से विषय समान रूप से सामूहिक शासन में रहें।

(६) कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापक सभा के बहुमत से प्रथम दस वर्ष बाद विधान की शर्तों पर पुनर्विचार कर सकेगा।

मंत्रिमिशन ने मुसलिम लीग की पाकिस्तान सम्बन्धी माँग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करके और यह कह कर भी कि प्रान्तों को अवशिष्ट अधिकार होंगे उन्हें तीन समूहों में बाँटने पर जोर दिया, जिनमें से पूर्वी और पश्चिमी समूहों में ऐसे प्रांतों का समावेश किया गया, जिनमें कुल मिलाकर मुसलिम बहुमत है। उसने 'क' समूह में मदरास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा रखे; 'ख' समूह में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रन्त और सिन्ध; और 'ग' समूह में बंगाल और आसाम।

विधान-सभा—ब्रिटिश मंत्रिमिशन ने विधान-सभा स्थापित करने की घोषणा की। इसके ब्रिटिश भारत के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा हुआ, जो साम्प्रदायिक मताधिकार पर बनी हुई थीं। इन सदस्यों की संख्या २९३ निश्चित की गयी; दस लाख पीछे एक प्रतिनिधि के हिसाब से। देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या ९१ निश्चित की गयी।

इस योजना में कई दोष थे—प्रान्तों का समूहीकरण, विधान-सभा के सदस्यों का निर्वाचन साम्प्रदायिक होना, और देशी राज्यों की ओर से

लिये जाने वाले सदस्यों के सार्वजनिक निर्वाचन की व्यवस्था न होना। परन्तु, अन्त में पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की आशा से, काँग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। विधान-सभा में प्रान्तों की ओर से लिये जाने वाले सदस्यों का चुनाव किया गया। मुसलिम लीग ने भी चुनावों में भाग लिया, पर पीछे उसने विधान-सभा मे असहयोग किया। सभा की कार्रवाई ६ दिसम्बर १९४६ से आरम्भ हुई।

देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव—ब्रिटिश मंत्रिमिशन की योजना में कहा गया था कि विधान-सभा में देशी राज्यों के ९३ सदस्य होंगे, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि इनका चुनाव किस प्रकार किया जायगा। मार्च १९४७ में विधान-सभा की रियासती वार्ता समिति और नरेन्द्र मंडल की वार्ता समिति ने मिलकर यह निश्चय किया कि रियासतों के कम-से-कम आधे प्रतिनिधि रियासतों की व्यवस्थापक सभाओं द्वारा, और उनके अभाव में इसी प्रकार की बनायी हुई दूसरी संस्थाओं के चुने हुए सदस्यों द्वारा, निर्वाचित हों। राजा और प्रजा में प्रतिनिधियों का ५०-५० प्रतिशत का बटवारा अधिकाश रियासती कार्यकर्ताओं को पसन्द न था। परन्तु काम चलाना था, इसलिए नेताओं के आग्रह के कारण यह समझौता अस्वीकार नहीं किया गया।

प्रतिनिधियों का रियासतों में बँटवारा—भारतवर्ष की कुल रियासतों में उपर्युक्त ९३ प्रतिनिधि किस प्रकार विभाजित किये जायँ, इस विषय पर विचार-विनिमय किया गया। ब्रिटिश भारत की तरह देशी राज्यों की प्रति दस लाख की आबादी का, एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार माना गया। साढ़े सात लाख या इससे ऊपर की आबादी को भी एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। इससे कम आबादी वाली रियासतों को छोड़ दिया जाय। रियासतों के मंडलों के सम्बन्ध में पाँच लाख या इससे ऊपर की आबादी को भी एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

नीचे लिखी रियासतों को अपनी आबादी के हिसाब से अलग-अलग एक-एक या अधिक सदस्य भेजने का अधिकार मिला—

क्रम	रियासत	आबादी	सदस्य
१	हैदराबाद	१६३ लाख	१६
२	मैसूर	७३ "	७
३	त्रावणकोर	६० "	६
४	कशमीर	४० "	४
५	गवालियर	४० "	४
६	बड़ौदा	३० "	३
७	जयपुर	३० "	३
८	जोधपुर	२५ "	२
९	उदयपुर	१९ "	२
१०	पटियाला	१६ "	२
११	रीवा	१८ "	२
१२	इन्दौर	१५ "	१
१३	कोचीन	१४ "	१
१४	बीकानेर	१३ "	१
१५	कोल्हापुर	११ "	१
१६	बहावलपुर	१० "	१
१७	मयूरभंज	१० "	१
१८	अलवर	८ "	१
१९	भोपाल	८ "	१
२०	कोटा	७ "	१
	योग	६१३ लाख	६०

अन्य रियासतों के मंडल बनाकर उनमें उनकी आबादी के अनुसार शेष ३३ सदस्य बांट दिये गये।

विधान योजना में परिवर्तन— मुसलिम लीग मंत्रिमिशन योजना का विरोध, और। वह पाकिस्तान के लिए आन्दोलन करती रही। आखिर, भारतवर्ष के खंडित होने की आशंका देख कर कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि किसी प्रदेश पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं लादा जा सकता। २० फरवरी ४७ की सरकारी घोषणा में निश्चयात्मक रूप से यह तो कहा गया कि भारत से विदेशी शासन का अन्त होगा और जून १९४७ तक शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपी जायगी, परन्तु भारतवर्ष के खंडित या अखंडित रहने का विचार अस्पष्ट ही रहा। आखिर, लार्ड माउँटबेटन ने विविध नेताओं से मिलकर तथा ब्रिटिश मंत्रिमंडल की स्वीकृति से ३ जून ४७ को विधान सम्बन्धी नयी योजना प्रकट की; इसे 'माउंटबेटन योजना' कहा जाता है।

दो औपनिवेशिक राज्य; भारतीय संघ और पाकिस्तान— इस योजन के अनुसार शासना की दृष्टि से भारतवर्ष के दो भाग हो गये:—भारतीय संघ और पाकिस्तान। पाकिस्तान के पूर्वी भाग में पूर्वी बंगाल है, जिसमें मुसलिम बहुमत वाली जनता है। आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग भी पूर्वी पाकिस्तान का अंग हो गया। पाकिस्तान के पश्चिमी भाग में पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, तथा बलोचिस्तान रखे गये और निश्चय किया गया कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की जनता का मत लिया जाय, वे चाहें तो भारतीय संघ में शामिल हो, और चाहे पाकिस्तान में। सीमा प्रान्त में कई वर्ष से कांग्रेस दल का भारी बहुमत रहा है। पिछले निर्वाचन ने यह साफ जाहिर कर दिया था कि वहाँ अधिकाँश जनता पाकिस्तान-विरोधी है। पर मुसलिम लीगियों के संघर्ष से बचने के लिए इस समय उसने भारतीय संघ में शामिल होना पसन्द नहीं किया। उसने अपने स्वतंत्र पठानिस्तान की माँग की। लेकिन प्रस्तुत योजना में उसकी गुञ्जायश नहीं थी। इसलिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त वालों ने निर्वाचन

का बहिष्कार किया। नतीजा यह हुआ कि पाकिस्तान के समर्थक लीगियों की विजय हुई, और अभी सीमाप्रान्त वालों को कानून की दृष्टि से पाकिस्तान में मिलना पड़ा, पर उनका इससे अलग होने का आन्दोलन चलता रहेगा।

अस्तु, अब मंत्रिमिशन की विधान सम्बन्धी योजना बदल गयी। १५ अगस्त से भारतवर्ष अखंड न रहकर उसके दो भाग हो गये, जिन्हें औपनिविक ('डोमिनियन') पद प्राप्त है! विधान-सभा पहले एक थी और वह देहली में काम कर रही थी, अब पाकिस्तानी क्षेत्रों के सदस्यों की एक अलग विधान-सभा बन गयी, जो कराची में पाकिस्तान के लिए विधान बनाने लगी।

नयी योजना की आलोचना—मंत्रिमिशन की १६ मई की योजना में जैसे-तैसे देश की एकता कायम रखने का प्रयत्न किया गया था, पर वह एकता सारहीन और अस्थायी थी। नई योजना से भारतीय यूनियन का क्षेत्र या सीमाएँ कम हो गयी हैं। आशा है यह कमी अस्थाई होगी। अब प्रान्तों का समूहीकरण, प्रान्तों को अवशिष्ट अधिकार, केन्द्र को केवल तीन विषयों का अधिकार रहने से उसकी बहुत कमजोरी, साम्प्रदायिक दलों को कानून बनाने में प्रभुता आदि का बन्धन नहीं रह गया। देश को अधिक एकरूपता मिल गयी है। हाँ, इस योजना में भी सर्वोच्च सत्ता सम्बन्धी निर्णय तथा देशी राज्यों की स्वतन्त्रता की गुञ्जायश के विषय विवादग्रस्त रहे।

सर्वोच्च सत्ता—इस (३ जून १६४७ की) योजना में बताया गया कि रियासतों के बारे में ब्रिटिश सरकार की जो नीति मंत्रिमिशन की १६ मई १६४६ की योजना में दी गयी थी, वह ज्यों की त्यों है। मंत्रिमिशन की १६ मई की योजना में कहा गया था कि 'स्वतन्त्र भारत की सरकार कायम होने पर देशी राज्यों और सम्राट के बीच किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहेगा, और जो अधिकार रियासतों ने सर्वोच्च सत्ता

को दिये थे, वे सब उन्हें लौटा दिये जायँगे। किन्तु भारत सरकार रियासतों के सम्बन्ध में जिस सर्वोच्च सत्ता का उपयोग करती आ रही है, वह किसी भी परिस्थिति में फिर उसे हस्तान्तरित नहीं की जायगी; ब्रिटिश सरकार भी सर्वोच्च सत्ता का उपयोग नहीं करेगी।'

इस घोषणा की यह बात तो ठीक है कि भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने पर ब्रिटिश सरकार सर्वोच्च सत्ता का उपयोग नहीं करेगी, परन्तु यह कहना कूटनीति-पूर्ण है कि उस समय सर्वोच्च सत्ता भारत सरकार को हस्तान्तरित नहीं की जायगी। विचार करने की बात यह है कि भारतवर्ष की सर्वोच्च सत्ता किसी भी समय में वह व्यक्ति या संस्था रही है, जो उस समय यहाँ की शासक थी—चाहे वह दिल्ली का बादशाह हो, या लन्दन में प्रधान कार्यालय रखनेवाली ईस्ट इंडया कम्पनी हो, या सम्राट् (इंगलैंड का बादशाह) हो। सम्राट् को सर्वोच्च सत्ता इसलिए नहीं प्राप्त हुई कि वह इंगलैंड का बादशाह था, बल्कि इसलिए कि उसे भारतवर्ष का शासन सौंपा हुआ था। देशी राज्यों के लिए वास्तव में सर्वोच्च सत्ता भारत सरकार ही रही है।

नये शासन विधानों से भारत सरकार के सङ्गठन में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है, और ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण क्रमशः घटता रहा है। पर इससे भारत-सरकार के सर्वोच्च सत्ता होने में कोई अन्तर नहीं आया। अब भारतवर्ष के स्वराज्य प्राप्त करने पर भी इसमें कोई अन्तर नहीं आता, चाहे यहाँ एक की जगह दो सरकारों की स्थापना हो गयी है। ब्रिटिश सरकार के बाद उसकी उत्तराधिकारी संस्थाएँ यहाँ भारतीय संघ और पाकिस्तान की सरकारें हैं। ये ही अपने-अपने क्षेत्र में देशी राज्यों के लिए सर्वोच्च सत्ता हैं।

अब देशी राज्यों की स्वतन्त्रता की बात लें।

देशी राज्यों की स्वतन्त्रता—इसका व्यवहारिक अर्थ है, भारतवर्ष का (जो दुर्भाग्य से दो भागों में बांटा ही जा चुका है),

और अधिक, जुदा-जुदा टुकड़ों में बँट जाना। ब्रिटिश अधिकारियों ने यद्यपि देशी राज्यों को 'डोमिनियन' पद देना स्वीकार नहीं किया, पर उन्होंने उनके स्वतन्त्र होने पर कोई रोक भी नहीं लगायी। उधर मुसलिम लीग के सर्वेसर्वा श्री० जिन्ना ने एक वक्तव्य दे डाला, जिसमें आपने कहा कि सर्वोच्च सत्ता समाप्त होने पर देशी राज्य पूर्ण रूप से स्वाधीन हो जायंगे और उन्हें अधिकार होगा कि वे चाहे हिन्दुस्तान अथवा पाकिस्तान किसी की विधान-सभा में सम्मिलित हों, अथवा बिल्कुल स्वतंत्र रहें। मुसलिम लीग किसी भी देशी राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करेगी। वे यदि पाकिस्तान विधान-सभा में आने अथवा स्वतंत्र रूप से पाकिस्तान सरकार से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे तो हम बातचीत के लिए सहर्ष तैयार हैं।'

ऐसी बातों से प्रोत्साहित होकर हैदराबाद और त्रावणकोर ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी तथा इन्दौर और भोपाल आदि के शासक भी ऐसा करने की बात सोचने लगे। इस पर भारतीय जनता तथा नेताओं का क्षोभ होना स्वाभाविक था।

रियासतों का रुख बदला—वायसराय ने रियासतों को यह स्पष्ट कर दिया कि अपने हितों की रक्षा का भार अब खुद देशी रियासतों पर ही होगा, सम्राट् की सरकार और नरेशों के बीच कोई प्रत्यक्ष समझौते या संधि की बात न हो सकेगी। देशी रियासतों की सहायता के लिए ब्रिटिश सेनाएँ न रहेंगी और यदि भारत की औपनिवेशिक सरकारों तथा नरेशों में कोई संघर्ष होगा तो नरेशों को सिर्फ अपनी शक्ति के बल ही उसका सामना करना पड़ेगा।

सरदार पटेल ने राजाओं और उनके मंत्रियों को परिस्थिति साफ-साफ बतला दी और कह दिया कि संघ से अलग रहनेवाली रियासतों के साथ समझौते की कोई चर्चा नहीं की जायगी। आखिर, संघ से

अलग रहने का विचार करने वाले राजाओं का रुख बदला। त्रावणकोर ने भारतीय संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया और खासकर हैदराबाद और कशमीर को छोड़ कर प्रायः सभी राज्य भारतीय संघ में शामिल हो गये। कशमीर के शीघ्र ही शामिल होने की आशा है। अन्त में जाकर तो हैदराबाद को भी शामिल होना पड़ेगा। जूनागढ़ (काठियावाड़) को भौगोलिक दृष्टि से भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए था, पर वहां के मुसलिम शासक ने उसे पाकिस्तान में शामिल कर दिया है।

देशी राज्यों के अधिकार—भारतीय संघ (या पाकिस्तान) में देशी राज्यों के अधिकार क्या होंगे? राजाओं ने मंत्रिमिशन की १६ मई १९४६ की योजना मंजूर की थी; उसके अनुसार यह तय पाया था कि रक्षा, विदेशी मामले और यातायात के साधन तथा इन विषयों सम्बन्धी कर या आमदनी—ये चार विषय केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहेंगे। ये विषय हैं भी ऐसे कि इन्हें केन्द्रीय सरकार ही ठीक तरह से संचालित कर सकती है। यह स्पष्ट ही है कि बाहरी आक्रमण से कोई रियासत सिर्फ अपने बल पर रक्षा नहीं कर सकती। यही बात वैदेशिक मामलों की है, जिनके लिए विदेशों में बहुत योग्य दूत आदि रखने और यथेष्ट साधन जुटाने पड़ते हैं। इसी तरह रेल, डाक, तार आदि के बारे में देश के एक हिस्से को दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, सहयोग के बिना रोजमर्रा का काम ही नहीं चल सकता। राजाओं को ये ही विषय—रक्षा, वैदेशिक मामले, यातायात और इनसे सम्बन्धित बातें केन्द्रीय सरकार को सौंपने के लिए कहा गया है। शेष सब विषयों में देशी राज्यों को अपने-अपने क्षेत्र में यथेष्ट अधिकार रहेगा, केन्द्रीय सरकार रियासतों के भीतरी मामलों में कोई दखल न देगी।

यह समझौता किया गया है, जिसके अनुसार तार, डाक आदि कुछ विषयों में, जिनसे रियासतों को बारबार देश के शेष हिस्से से काम

पड़ता है, दो साल के लिए ऐसी ही व्यवस्था रहेगी, जैसी इस समय है।

भारतीय संघ या पाकिस्तान ?—भारतीय संघ या पाकिस्तान से मिलने की दृष्टि से रियासतों के तीन भेद है। (१) बलोचिस्तान और सीमा प्रान्त की रियासतें और पंजाब की बहावलपुर आदि कुछ इनीगिनी रियासतें तो पाकिस्तान क्षेत्र में, या उससे मिली हुई हैं। इनमें से कलात स्वतंत्र रहने के लिए प्रयत्नशील है, शेष राज्यों को पाकिस्तान में सम्मिलित होने में ही सुविधा है। (२) कशमीर आदि कोई कोई रियासत भारतीय संघ और पाकिस्तान दोनों से मिली हुई हैं, उनके सामने इन दोनों में से किसी एक में शामिल होने का सवाल था; और उनके लिए जिस किसी की सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति अधिक अनुकूल हो, उसी में मिलना ठीक था। (३) उपर्युक्त दोनों प्रकार की रियासतें कुछ इनीगिनी ही है। इन्हें छोड़कर भारतवर्ष की शेष सब रियासतें भारतीय संघ के ही दायरे में आती हैं, वे चारों ओर से उसके ही प्रदेशों से घिरी हुई हैं। इनके शासकों के लिए भौगोलिक सीमाओं तथा अपनी जनता का विचार करना आवश्यक है। यदि ये उसका विचार न कर पाकिस्तान में शामिल हों तो इन्हें अपनी जनता का विरोध और भारतीय संघ से संघर्ष लेना पड़े। और, पाकिस्तान की सरकार चाहे भी तो इन रियासतों की मदद नहीं कर सकती। इसलिए इनमें से किसी रियासत का भारतीय संघ न मिलना अव्यवहारिक है।

सतरहवाँ अध्याय

शासन सम्बन्धी रियासती इकाइयां

सभ्य शासन का एक न्यूनतम धरातल तो होना ही चाहिए, जहाँ तक पहुँचना सभी रियासतों के लिए आवश्यक हो।

—के० आर० आर० शास्त्री

१५ अगस्त १६४७ से भारतवर्ष में भारतीय सङ्घ और पाकिस्तान ये दो औपनिवेशिक राज्य (डोमिनियन) बन गये हैं। पहले भारतवर्ष में ११ प्रान्त थे, अब बंगाल और पंजाब के दो-दो भाग हो जाने से प्रान्तों की संख्या १३ हो गयी है।* इनकी सीमा किसी विचारपूर्ण सिद्धान्त के आधार पर निश्चित नहीं हुई है। बहुत समय से जनता में भाषा और संस्कृति आदि के आधार पर प्रान्तों के पुनर्निर्माण की भावना बढ़ रही है। आर्थिक स्वावलम्बन की दृष्टि से भी विचार करना है। इस प्रकार भविष्य में १६-१७ प्रान्त होने का अनुमान है।

रियासती इकाइयों के आवश्यक गुण—देशी राज्यों का कुल क्षेत्रफल और जनसंख्या इस पुस्तक के पहले अध्याय में बतलायी जा चुकी है। उनका क्षेत्रफल प्रान्तों के क्षेत्रफल का दो-तिहाई और आबादी तो सिर्फ़ एकतिहाई के ही करीब है। तो भी देशी राज्यों की संख्या इस समय ५८४ अर्थात् प्रान्तों की संख्या की कई गुनी है। राजनीति का क-ख-ग जाननेवाला भी यह स्वीकार करेगा कि यहाँ इतनी रियासतें किसी भी दशा में नहीं रह सकतीं। तो सवाल यह है कि भविष्य में कौनकौनसी या कैसे गुणों वाली रियासतों का बना रहना ठीक है। इस विषय में विविध लेखकों का जुदा-जुदा मत है। तो भी आम तौर पर

---

* चीफ कमिश्नरियाँ अलग हैं, पर उन्हें प्रायः किसी न किसी प्रान्त में मिलना आवश्यक है।

इस बात में सब सहमत हैं, और सहमत होना ही चाहिए कि जो रियासतें लोकहित के आधुनिक मान को कायम नहीं रख सकतीं, जो प्रगतिशील उत्तरदायी शासनपद्धति नहीं चला सकतीं, जो नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग धंधे, न्याय और यातायात की उचित व्यवस्था नहीं कर सकतीं, जो इन बातों के लिए दूसरे को सहायता पर निर्भर हों, उन्हें बने रहने का कोई अधिकार नहीं हो सकता। भारतवर्ष में केन्द्रीय सरकार रक्षा, अन्त प्रांतीय यातायात, और विदेश-नीति के लिए उत्तरदायी रहेंगी। इन विषयों को छोड़कर शेष विषयों का प्रबन्ध चलाने की क्षमता सङ्घ की अलग-अलग सब इकाइयों में होनी चाहिए। जो रियासत अपने क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय की दृष्टि से इस योग्यता वाली हो, उसका ही जुदा अस्तित्व रहना उचित है। शेष सब रियासतों को अपने से मिले हुए नजदीक के प्रान्त में, और प्रान्त न हो तो दूसरी बड़ी रियासत में सम्मिलित हो जाना चाहिए।

श्री० रामस्वामी अय्यर की योजना—त्रावणकोर के दीवान सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने कई राजाओं और मंत्रियों से विचार-विनिमय करने के बाद अपनी योजना बनायी थी। आपका मत है कि पचास लाख रुपए से अधिक सालाना आमदनी वाले राज्यों की तो स्वतंत्र रूप से अलग-अलग इकाइयाँ बनायी जायँ, और शेष राज्यों के ऐसे समूह बना दिये जायँ, जिनमें से हर एक की वार्षिक आय पचास लाख रुपये हो। इस योजना में जनता की भाषा, संस्कृति आदि का कोई विचार नहीं रखा गया, सिर्फ आमदनी के आधार पर ही इकाइयाँ बनाने की बात कही गयी है। और, आमदनी का मान बहुत कम रखा गया है।

भारतवर्ष के छोटे प्रान्त आसाम, सिन्ध और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त हैं, इनकी आय क्रमशः ६।।, ६ और २।। करोड़ रुपए रही है। ये प्रान्त घाटे की आय वाले हैं, इनका काम केन्द्रीय सरकार की

सहायता के बिना नहीं चला। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ५० लाख रुपये की आय वाले प्रदेश को संघ की इकाई बनाने की बात बिल्कुल अव्यावहारिक है। आधुनिक ढंग का उन्नत शासन चलाने में समर्थ होने के लिए वार्षिक आय काफी अधिक होनी चाहिए।

श्री० जायसवाल जी की योजना—श्री० सत्यनारायण जी जायसवाल का मत है कि भविष्य में चाहे प्रान्त हों, और चाहे देशी राज्य—सब के अधिकारों में पूरी समानता हो, सब में लोकप्रिय सरकारें हों, देशी राजाओं को शासन में कोई अधिकार न हो। उनके विचार से प्रान्तों तथा देशी राज्यों को कुल मिला कर निम्नलिखित २२ प्रान्तों में बांटा जाना चाहिए; इनकी संख्या तथा सीमा में आवश्यक परिवर्तन हो सकता है—

(१) सीमाप्रान्त, (२) कश्मीर (३) पंजाब, * (४) सिन्ध, (५) हरियाना, (६) नेपाल, † (७) संयुक्तप्रान्त, (८) राजपूताना, (९) मालवा, (१०) गुजरात, (११) महाराष्ट्र, (१२), (१३) छत्तीसगढ़, (१४) केरल (१५) कर्नाटक, (१६) तामिलनाड़, (१७) आंध्र, (१८) उड़ीसा, (१९) बिहार, (२०) पश्चिमी बंगाल, (२१) पूर्वी बंगाल, (२२) आसाम।

डा० पट्टाभिसीतारमैया का मत—डाक्टर पट्टाभि जी का मत है कि भारतवर्ष में १६ प्रान्त तथा १६ रियासतें हों। रियासतें ये हों—(१) त्रावणकोर, (२) कोचीन, (३) मैसूर, (४) हैदराबाद, (५) बड़ौदा, (६) गवालियर, (७) कशमीर, (८) रीवां, (९) जयपुर, (१०) जोधपुर, (११) दक्षिण रियासतों की यूनियन, (१२) राजपूताना यूनियन, (१३) मध्यप्रान्तीय यूनियन, (१४) पश्चिमी भारत यूनियन, (१५) पूर्वी एजन्सी यूनियन, (१६) पंजाब रियासतों की यूनियन।

---

* पंजाब के अब दो भाग हैं एक भारतीय संघ में और दूसरा पाकिस्तान में है।

† नेपाल भारतवर्ष से अभी तो बाहर ही है।

इन योजनाओं पर विचार—इस प्रकार की योजनाएँ और भी बनी हैं, तथा बन सकती है। हमने पाठकों के विचारार्थ नमूने के तौर से तीन ही योजनाएँ ऊपर दी है। इनमें से श्री० सर रामस्वामी अय्यर की योजना के दोषों का विचार ऊपर किया ही जा चुका है। श्री० जायसवाल जी की योजना से बननेवाली इकाइयाँ अधिकतर आत्म-निर्भर या स्वावलम्बी होंगी। इस योजना में प्रान्तों और देशी राज्यों को मिलाजुला मान कर विचार किया गया है। इनमें राजाओं का कोई अलग स्थान नहीं है। आदर्श या सुदूरवर्ती विचार से ऐसी योज-नाएँ ठीक हो सकती हैं, परन्तु अभी हाल तो देशी राज्यों को समाप्त नहीं किया जा रहा है। उनका अलग अस्तित्व रहेगा, चाहे उनकी संख्या कितनी ही कम क्यों न हो।

डा० पट्टाभि सीतारमैय्या ने रियासती इकाइयाँ अलग बनायी हैं। हाँ, उन्होंने जोधपुर और जयपुर को राजपूताना यूनियन से अलग रखा है तथा रीवा को एक अलग इकाई का स्थान दिया है। पर ये तो ब्योरेवार बातें हैं, जो समय पर तय होंगी।

अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद् का मत—देशीराज्य-लोक परिषद् ने सन् १६३८ में यह निश्चय किया था कि भविष्य में वे ही रियासतें रहें, जिनकी जनसंख्या बीस लाख से अधिक, अथवा वार्षिक आय पचास लाख रुपये से अधिक हो। इस प्रकार ये रियासतें बने रहने योग्य समझी गयी थीं :—

(१) हैदराबाद, (२) मैसूर, (३) त्रावणकोर, (४) जम्मू और कशमीर, (५) ग्वालियर, (६) जयपुर, (७) बड़ौदा, (८) जोधपुर, भावनगर, (१०) पटियाला, (११) बीकानेर, (१२) इन्दौर, (१३) नवानगर, (१४) जूनागढ़, (१५) भोपाल, (१६) कोचीन, (१७) उदयपुर, (१८) कोल्हापुर, (१६) मोर्वी, (२०) रीवाँ और (२१) गोंडल। इनमें से पहली नौ रियासतों में जनसंख्या और आय दोनों

शर्तें पूरी होती हैं, और शेष रियासतें सिर्फ आय की दृष्टि से ही रखने योग्य मानी गयी थीं।

गत वर्ष (१९४६) लोक परिषद् ने अपने उदयपुर के अधिवेशन में उक्त प्रस्ताव में संशोधन कर के ऐसी रियासतों के अस्तित्व का समर्थन किया, जो लोक-कल्याण के आधुनिक आर्थिक मान को क़ायम रख सकें, जो प्रगतिशील और उत्तरदायी शासन प्रबन्ध चला सकें। शेष सब रियासतों को उनके निकटवर्ती प्रान्तों में अथवा कुछ दशाओं में दूसरी बड़ी रियासतों में मिलाना ज़रूरी समझा गया। सितम्बर १९४६ में परिषद् की स्थाई समिति ने इस विषय पर यह मत प्रकट किया कि साधारणतया संघ की इकाई होने के लिए ऐसी ही रियासतें ठीक रहेंगी, जिनकी आबादी लगभग ५० लाख और आय लगभग तीन करोड़ रुपये हो। हाँ, विशेष कारणों से इनमें अपवाद किये जा सकते हैं।

छोटी रियासतों का सवाल—रियासतों को अब लोकतंत्रात्मक शासनपद्धति प्रचलित करनी होगी; व्यवस्थापक सभा, उत्तरदायी मंत्रियों, निस्पक्ष न्यायालयों और सुयोग्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति करनी होगी। छोटी रियासतों में उत्तरदायी शासन की इन प्रारम्भिक आवश्यकताओं के लिए आर्थिक साधन जुटाना सम्भव नहीं होता। इसके अतिरिक्त जनता की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक उन्नति के लिए भी विविध कार्यों की आवश्यकता होती है। स्कूल और कालिज, विश्वविद्यालय, अस्पताल, नहर आदि आबपाशी के साधन, औद्योगिक योजनाएँ, जंगल, बिजली और यातायात आदि की व्यवस्था बिना कोई राज्य अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सकता। इस प्रकार भविष्य में बहुत छोटी-छोटी रियासतों के रहने की कोई गुंजाइश नहीं। कुछ खास हालतों को छोड़ कर, उन्हें साधारणतया उनसे मिले हुए प्रान्त में ही मिलाने में लोकहित है। इससे उनकी

जनता को उत्तरदाई शासनपद्धति का उपयोग करने का अवसर मिलेगा, और वह अपनी राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य उन्नति कर सकेगी।

देशी राज्यों के समूह; राजाओं की गुटबन्दी—कुछ रियासतें ऐसी है जो बहुत ही छोटी न होने पर भी ऐसी नहीं है कि आधुनिक पद्धति के शासन के लिए स्वतंत्र इकाई बन सकें। उनके समूह बनाने का सवाल पैदा हुआ। राजाओं ने इसके लिए विविध योजनाएँ बनायीं, उन्हों ने गुपचुप काम किया, जिससे सर्वसाधारण को उनका पता न चले। मालूम हुआ कि खासकर पश्चिम भारत, गुजरात, मध्य भारत, राजपूताना, पूर्वी भारत, और दक्षिण की रियासतों के अलग-अलग यूनियन बनाने की बात सोची गयी। नवानगर के जाम साहब ने तो गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजपूताने की रियासतों को मिला कर एक बहुत ही बड़ी गुटबन्दी की योजना तैयार की थी। अगर ऐसे यूनियन या समूह लोकहित की दृष्टि से बनाये जायँ तो इनका बनना बुरा नहीं। पर राजा लोग तो यूनियन बना कर अपनी ताकत संगठित और मज़बूत करना चाहते हैं। ऐसे यूनियन राजाओं के यूनियन भले ही कहे जायँ, राज्यों के अर्थात् रियासती जनता के यूनियन नहीं कहे जा सकते; कारण, रियासतों का वर्तमान शासक या मंत्री वर्ग जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसे यूनियन सामन्तशाही को और अधिक मज़बूत बनानेवाले और अनुत्तरदायी एकतंत्री शासन की उम्र बढ़ानेवाले होते हैं। इसलिए जब-जब जनता को उसकी बात मालूम हुई, उसका घोर विरोध किया गया है।*

प्रादेशिक सभाओं का मत—अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद के आदेशानुसार रियासतों के समूहों के सम्बन्ध में रियासतों की प्रादेशिक सभाओं ने विचार किया था। वे जिस नतीजे पर पहुँची, वह

*दक्षिणी रियासतों के राजाओं ने अपने राज्यों का समूह बनाने में लोकहित का ध्यान रखा, तथा म० गांधी और कांग्रेस-नेताओं का परामर्श लिया था।

संक्षेप में यह है :—

१—भारतवर्ष में छः रियासतें ऐसी हैं, जो संघ की अलग-अलग इकाई के रूप में रह सकती हैं—हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर, त्रावणकोर और जम्मू-कशमीर। इनमें से बड़ौदा, ग्वालियर और त्रावणकोर के साथ इनके पास की दूसरी रियासतों का भी प्रश्न मिला हुआ है।

२—पंजाब की प्रादेशिक लोक परिषद के कार्यकर्ताओं का मत था कि पंजाब की सब रियासतों को पंजाब प्रान्त में मिला दिया जाय।*

३—शिमला पहाड़ी राज्यों के लोक-प्रतिनिधियों का मत है कि इन छोटी-छोटी रियासतों को पंजाब प्रान्त में मिला दिया जाय। टेहरी वास्तव में संयुक्तप्रान्त से सम्बन्धित है, इसे उस प्रान्त में मिलाया जाना चाहिए।

४—राजपूताना प्रादेशिक परिषद ने निश्चय किया कि भाषा, संस्कृति, ऐतिहासिक और राजनीतिक सम्बन्ध के आधार पर राजपूताने की सीमाओं में जो परिवर्तन आवश्यक हों, उन्हें करने के बाद सारा राजपूताना, अजमेर-मेरवाड़ा सहित, एक ही इकाई की हैसियत से भावी भारतीय संघ में सम्मिलित हो।

५—मध्यभारत प्रादेशिक लोक-परिषद की स्टेट्स ग्रुपिंग सब-कमेटी ने मध्य-भारत की रियासतों में से, इस प्रदेश के साथ जुड़ी हुई रामपुर और बनारस रियासत को संयुक्तप्रान्त में, और मकड़ाई रियासत को मध्यप्रान्त में मिलने की, और शेष रियासतों की (१) रीवा-बुन्देलखंड और (२) बृहत मालवा ये दो इकाइयाँ बनाये जाने की सिफारिश की है।

उड़ीसा की रियासतों के प्रतिनिधियों ने उड़ीसा के राज्यों को उड़ीसा प्रान्त में मिलाये जाने की सिफारिश की है।

* अब इस प्रान्त के दो भाग हो गये हैं—पूर्वी और पश्चिमी।

७—महाराष्ट्र की रियासतों के प्रतिनिधियों का मत है कि दक्षिण की रियासतों का एक समूह बनाया जाय।

८—गुजरात-काठियावाड़ के देशी राज्यों के सम्बन्ध में वहाँ की सार्वजनिक संस्थाओं का मत हमारे सामने नहीं है। हाँ, भाषा के आधार पर इनका बड़ौदा के नेतृत्व में एक संघ बनाने की योजना तैयार की गयी है।

९—मदरास की रियासतों के कार्यकर्त्ताओं की सिफारिश है कि त्रावणकोर और कोचीन को एक कर दिया जाय और उसके साथ ब्रिटिश मलावार का इलाका भी जोड़ कर एक बड़ी इकाई केरल प्रान्त के रूप में बनादी जाय। पद्दूकोटा और बंगनपल्ली को पास के प्रान्त में जोड़ दिया जाय।

१०—मणिपुर के कार्यकताओं का मत है कि सब मणिपुरी भाषा-भाषियों को एक समूह में मिला दिया जाय।

११—सिक्कम, त्रिपुरा और कूचविहार को बंगाल में जोड़ दिया जाय।

१२—पश्चिमोत्तर भारत के देशी राज्यों को पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में मिला दिया जाय।

१३—बलोचिस्तान की कलात आदि रियासतें बलोचिस्तान प्रान्त में मिला दी जायँ।

भारतीय सङ्घ या पाकिस्तान की रियासतो इकाइयों सम्बन्धी अंतिम निर्णय तो अभी होने को है। उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को इस विषय की कुछ अच्छी विचार-सामग्री मिल जायगी, यह आशा है।

———

अठारहवाँ अध्याय

रियासती इकाइयों का शासन

यह हो नहीं सकता कि स्वतंत्र भारतीय संघ में सम्मिलित होनेवाली किसी भी इकाई का शासनतंत्र दूसरी इकाइयों से भिन्न बना रहे। देशी राज्यों की जनता को आशा करनी चाहिए कि भविष्य में केन्द्रीय सरकार देशी राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करवाने में सहायता पहुँचावेगी। और, अन्त में देशी राज्यों की जनता स्वयं अपने भाग्य की निर्मातृ क्यों नहीं होगी! —हीरालाल शास्त्री

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि जनसंख्या आय, क्षेत्रफल, भाषा, रहनसहन आदि की दृष्टि से रियासती इकाइयों का निर्माण किस प्रकार किया जाना चाहिए। अब हमें यह विचार करना है कि इन इकाइयों का शासन-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, अथवा किसी इकाई के लिए शासन सम्बन्धी किन शर्तों का पालन किया जाना आवश्यक है।

लोक परिषद् की विशेषज्ञ कमेटी की सिफारिशें—सन् १६४६ के अन्त में अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद ने एक विशेषज्ञ कमेटी इस बात के लिए नियुक्त की थी कि वह संघ-शासन में रियासतों के मिलने के बारे में राय दे, रियासतों के विधान में सम्मिलित करने के लिए जनता के आधारभूत अधिकारों को निश्चित करे, और संघ की विधान-सभा की समझौता समिति के निर्णय पर आवश्यक निर्देश दे। इस विशेषज्ञ कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में रियासतों के संघ-शासन में सम्मिलित होने के बारे में यह सिफारिश की कि कोई भी रियासत जो लोक परिषद के वर्तमान उद्देश्य के अनुसार शासक की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त को व्यवहारिक

रूप में स्वीकार नहीं करती, उसे भारतीय संघ में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त—कमेटी ने सुझाया है कि रियासतों को नीचे लिखे सिद्धान्तों को मानते हुए उत्तरदायी शासन या जिम्मेवार हकूमत की घोषणा करनी चाहिए—

१—जनता के आधारभूत या बुनियादी अधिकारों की रक्षा हो। इसके लिए एक स्वतंत्र न्यायालय हो, जिसका भारतवर्ष के सर्वोच्च या संघ-न्यायालय से सम्बन्ध हो।

२—प्रबन्धकारिणी (मंत्रिमडल) ऐसी व्यवस्थापक सभा के प्रति जिम्मेवार हो, जो पूर्ण रूप से चुनी हुई हो, अर्थात् जिसके सब सदस्य निर्वाचित हों।

३—चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर हो।

४—निर्वाचन संयुक्त चुनाव पद्धति द्वारा हो, किन्तु हरिजनों, महिलाओं, महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, बहिष्कृत क्षेत्रों (एक्सक्लूडेड एरिया) और मजदूरों के वास्ते विशेष स्थान सुरक्षित रहें।

५—शासन और न्याय विभाग अलग-अलग हों; न्याय विभाग स्वतंत्र हो।

६—राजा के निजी खर्च के लिए रकम बंधी हुई हो।

७—जो रियासतें किसी के साथ मिलाई न जाकर स्वतन्त्र रूप मे रहें, उनके शासकों को तथा विभिन्न रियासतों के समूहों के मुखियाओं को जो निजी खर्च दिया जाय, वह प्रान्तों के गवर्नर या स्वतन्त्र भारत के प्रधान के वेतन से अधिक न हो, या शासक की अपनी रियासत की शुद्ध आय (खालिस आमदनी) का ५ प्रतिशत हो। यह ध्यान रहे कि इन दोनों में से जो रकम कम हो, वही दी जाय।

८—रियासत में राजा की जागीर या 'सर्फे खास' जैसी कोई भूमि न मानी जाय।

९—जागीरों, ठिकानों, जमींदारियों को तथा सरकार और जनता के बीच के सामंती स्वार्थ या संस्थाओं को उचित मुआवजा चुका कर समाप्त कर दिया जाय।

१०— आय-व्यय पूरे तौर से व्यवस्थापक सभा के नियंत्रण में रहे; आय-व्यय के जांच की स्वतन्त्र व्यवस्था हो।

उपसंघों की योजना—विशेषज्ञ कमेटी ने भाषा सम्बन्धी और सांस्कृतिक एकता के आधार पर रियासतों को विभिन्न इकाइयों और उपसंघों में मिलाने के प्रश्न पर विचार करके नीचे लिखे उपसंघ बनाने की सिफारिश की है—

(क) केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र रियासतें।

(ख) गुजरात की रियासतें।

(ग) रीवां तथा बुन्देलखंड और बघेलखंड की रियासतें।

(घ) ग्वालियर सहित मालवा की रियासतें।

(च) पंजाब की सिक्ख रियासतें।

(छ) अजमेर मेरवाड़ा सहित राजपूताने की रियासतें।

छोटी रियासतों की बात—इस विषय में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। विशेषज्ञ कमेटी ने भी कहा है कि छोटी रियासतों को पास के प्रान्तों में मिला दिया जाना चाहिए; जैसे मणिपुर आसाम में, त्रिपुरा और कूचबिहार बंगाल में, उड़ीसा की रियासतें उड़ीसा में, शिमला पहाड़ी रियासतें पड़ोस के प्रान्त पंजाब और संयुक्तप्रान्त में मिला दी जायँ।

विशेष वक्तव्य—अब भारतवर्ष में भारतीय संघ और पाकिस्तान में दो राज्य बन गये हैं, तथापि उपर्युक्त बातों में विशेष अन्तर नहीं आता। शासन सम्बन्धी हरेक रियासती इकाई को अपनी योग्यता और क्षमता का परिचय देना होगा; केवल उन विषयों को छोड़ कर जो केन्द्र के सुपुर्द रहेंगे, शेष सब के प्रबन्ध की सुचारू व्यवस्था करनी होगी।

———

उन्नीसवाँ अध्याय

भारतीय प्रजातन्त्र में राजाओं का स्थान

यदि किसी खास रियासत की जनता राजतन्त्र शासन रखना चाहती है तो वह रख सकती है। रियासतों में राजतंत्री शासन-व्यवस्था होने से भी कोई विपरीतता या असम्भवता नहीं आ सकती, बशर्ते वहाँ जनता की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा जिम्मेदार हुकूमत कायम रहती हैं और जनता ही के हाथ में शासनसूत्र रहता है।

—जवाहरलाल नेहरू

जनतंत्र में राजतन्त्र रह सकेगा—स्वराज्य भोगनेवाले जनतंत्रों के संघ में कुछ व्यक्तियों के निजी राज्य जैसी आजाद इकाइयाँ बेमेल मालूम होती हैं। तथापि कांग्रेस, मुसलिम लीग तथा रियासती संस्थाओं ने देशकाल का विचार करके देशी राज्यों को बनाए रखना स्वीकार कर लिया है। अ० भा० दे० रा० लोकपरिषद के कार्यवाहक अध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारामैया ने दिसम्बर १६४६ के एक वक्तव्य में कहा है—'कुछ राज्य राजतंत्रों के भविष्य के बारे में चिन्तित हैं। लेकिन भारतवर्ष के सर्वतंत्रीय स्वतंत्र जनतंत्र में राजतंत्रों का रहना उसी प्रकार अविरोध है, जिस प्रकार ब्रिटेन और उसके राष्ट्र-समूह में आयर्लैंड का जनतंत्र या स्वतंत्र राज्य अविरोध है। राजाओं को भयों की कल्पना करने और उनसे मुक्त होने के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं है।'

राजाओं का वैधानिक शासक होना अनिवार्य—भारतवर्ष की भावी व्यवस्था में जो थोड़े से राजा रहेंगे, और जब तक वे रहेंगे, वे जनता की शुभ इच्छा से, उसके ट्रस्टी के रूप में ही रह सकेंगे।

उन्हें अपने-अपने राज्य में इंगलैंड की बादशाह की तरह वैधानिक शासक का पद ग्रहण करना होगा। उन्हें आरम्भ से ही उत्तरदाई शासन की स्थापना करनी होगी, जनता को जनतांत्रिक व्यवस्था के अनुसार यथेष्ट नागरिक अधिकार देने होंगे। उन्हें यह अच्छी तरह ध्यान रखना होगा कि सारे अधिकारों का श्रोत जनता है। राजा को दिया जानेवाला कोई भी विशेषाधिकार उसकी रियासत के विधान से ही मिलना चाहिए। जो राजा रियासती इकाइयों के (वैधानिक) शासक होंगे, उनकी मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा और पद का यथेष्ट ध्यान रखा ही जायगा। इस प्रकार अन्य व्यक्तियों की भांति राजाओं की योग्यता का समुचित सम्मान किया जायगा, और उन्हें अपनी योग्यता दर्शाने के अनेक अवसर मिलते रहेंगे।

राजाओं का समाधान—जो राजा अभी तक प्रायः निरंकुशता का व्यवहार करते रहे हैं, उन्हें वैध और उत्तरदाई शासक बनने के लिए अपना स्वभाव बदलने में शायद कुछ समय तक कठिनाई हो। परन्तु यदि उनकी सदिच्छा हो और उनमें हवा का रुख समझने की क्षमता हो तो उनकी कठिनाई सहज ही दूर हो जायगी।

जिन रियासतों का भविष्य में अस्तित्व नहीं रहना है, उनके राजाओं को सोचना चाहिए कि देश से ज़मींदारी प्रथा उठ रही है, सामन्तशाही का जमाना, अब लद चला। राजा लोग आनेवाले परिवर्तनों का देशहित के लिए खुशी से स्वागत करें और अपने व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ का लोककल्याण के लिए त्याग करें, इसी में उनका भला है। उन्हें कृतज्ञ होना चाहिए कि उनके अनुचित कार्यों और अत्याचारों से क्षुब्ध होते हुए भी जनता में म० गांधी आदि के यत्नों से अभी तक अहिंसक भावना जैसे-तैसे बनी हुई है, और राजाओं को साधारण जरूरतों को पूरी करने के साधनों से वंचित नहीं किया जायगा; उनसे रूस के जार-परिवार के सदस्यों की तरह

व्यवहार न किया जायगा, वरन् उन्हें सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत करने दिया जायगा।

जनता की शंका और उसका निवारण—रियासतों के बहुत से भुक्तभोगी सज्जनों को अब स्वराज्य-प्राप्त भारत में रियासतों और राजाओं के बने रहने की बात बहुत खटकती है। वे साफ तौर से पूछ रहे हैं कि इनकी जरूरत ही क्या है, जब कि अधिकांश रियासतों में आदमी आदमियों की सी जिन्दगी नहीं बिता पाते। अगर कोई राजा किसी प्रतिष्ठित या परोपकारी घराने का है तो क्या सिर्फ इस बात से ही उसे लाखों आदमियों का भाग्य-विधाता बनने का अधिकार मिल सकता है? फिर, बहुत से राजा तो इस श्रेणी में भी नहीं आते। अनेक आदमी सर्वसाधारण पर अपनी धौंस जमा कर लाठी या तलवार के बल पर राजगद्दी के मालिक बने, बहुतों ने तो निश्चय ही राष्ट्र के जीवन में विभीषण का काम किया है, कितनों ही ने कूटनीति से (जो छल कपट का सुन्दर नाम है) काम निकाला। इन बातों ने जनता के विचारों में बहुत उथलपुथल मचा रखी है। बहुत से आदमी इतने निराश हो गये हैं कि उनकी समझ से इस समस्या का एकमात्र हल यह है कि रियासतों का अन्त कर दिया जाय। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

परन्तु वे जरा विचार करें। अब तक राजा लोग ब्रिटिश सरकार के सहारे, अंगरेजी फौज और संगीनों की बदौलत अपने आपको ऐसा सुरक्षित समझते रहे कि उन्होंने जनता के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने की ज़रूरत ही नहीं समझी। अब ब्रिटिश सरकार की सत्ता हटने पर उनका सीधा सम्बन्ध अपनी जनता से होगा, और स्वयं अपने हित के लिए भी वे उसकी उपेक्षा न कर सकेंगे। फिर अब वे भारतीय संघ (या पाकिस्तान) के सदस्य होंगे, केन्द्र में प्रजातन्त्र सरकार होगी, तथा उनके चारो ओर प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का वातावरण होगा। वे इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकेंगे। वे युग-

धर्म का संदेश सुनेंगे तथा वैधानिक शासक के रूप में लोकसेवा करेंगे।

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार प्रजातन्त्री भारत में राजतन्त्र को गुञ्जाइश तो होगी, परन्तु इस देश की विविध इकाइयों के शासनतन्त्र एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं होंगे। भारतीय संघ की रियासती इकाइयों को अन्य इकाइयों की भांति अपने शासन को लोकतन्त्री और उत्तरदाई बनाना होगा। निदान, यदि देश में मुट्ठी भर राजा बने रहते हैं, तो इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं, वे लोकहितैषी होकर ही रह सकेंगे।

दूसरा भाग
बीसवाँ अध्याय
प्रस्तावना

यह गवारा नहीं हो सकता कि आधा हिन्दुस्तान आजाद हो, और आधा गुलाम। —जवाहरलाल नेहरू

इस पुस्तक के पहले भाग में ऐसे मुख्य-मुख्य व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया है, जिनका सभी देशी राज्यों से सम्बन्ध है। अब इस दूसरे भाग में अलग-अलग कुछ राज्यों की शासनपद्धति का विचार करना है। भारतवर्ष में देशी राज्यों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सब के सम्बन्ध में अलग-अलग लिखना बहुत ही कठिन है। इसलिए हम कुछ छोड़े-से ही राज्यों के विषयों में विचार करेंगे। इन राज्यों का चुनाव करने के लिए, हमारे सामने मुख्य बातें ये हैं:—

१—ऐसे राज्यों का विशेष विचार किया जाय जिनमें जन-संख्या, और आय की दृष्टि से, भारतीय संघ की इकाई होने की योग्यता अपेक्षाकृत अधिक हो।

२—भारतवर्ष के उत्तर, दक्षिण, और मध्य सभी भागों के कुछ-कुछ राज्यों का समावेश हो।

३—कुछ राज्य ऐसे हों जिनकी शासनपद्धति अपेक्षाकृत अच्छी मानी जाती है, तो कुछ राज्य ऐसे भी हों जिनकी शासनपद्धति बहुत खराब है, यहाँ तक कि उसे 'शासनपद्धति' का नाम देना भी अनुचित है।

४—राज्य इस प्रकार लिये जायँ कि उनमें सभी मुख्य-मुख्य धर्मों तथा जातियों के शासकों का समावेश हो जाय, यद्यपि यह कोई महत्व की बात नहीं है।

पुस्तक हिन्दी में होने से स्वभावतः हमने राजपूताना और मध्य भारत आदि उन भागों के राज्यों का अधिक विचार किया है, जो हिन्दी भाषा-भाषी हैं ।

अस्तु, जिन राज्यों को यहाँ लिया गया है, ये आखिर कुछ नमूने ही तो हैं । अन्य राज्यों के विषय में विचार करने का कार्य पाठकों पर छोड़ दिया गया है; हाँ, उनकी सहायता के लिए कहीं-कहीं कुछ संकेत इस पुस्तक में दे दिया गया है । उससे उन्हें यह अनुमान करने में सुविधा होगी कि अमुक राज्य की शासनिक या राजनीतिक अवस्था अमुक राज्य सरीखी होगी । प्रत्येक देशी राज्य के विचारशील नागरिक विचार करें कि उनके राज्य की शासन सम्बन्धी स्थिति क्या है, अन्य राज्यों में उसका स्थान क्या है, भारतीय संघ के प्रान्तों की तुलना में वह कैसा है, संसार के स्वतन्त्र और समुन्नत भाग का स्थान प्राप्त करने के लिए उसमें अभी क्या-क्या कमी हैं, हमारा राज्य-शासन सम्बन्धी लक्ष्य क्या है, और अभीष्ट मंजिल तक पहुँचने के लिए हमें क्या करना चाहिए ।

नोट :—आगामी अध्यायों का क्रम निश्चित करने में हमने प्रायः देशी राज्यों की भौगोलिक स्थिति सामने रखी है ।

इक्कीसवाँ अध्याय

कश्मीर

हिन्दू राज्य और मुसलिम राज्य की बात करना असामयिक है । क्या कशमीर इसलिए हिन्दू राज्य है कि हिन्दू राजा उस प्रदेश पर शासन करता है, जिसकी जनता अधिकांश में मुसलमान है ? अथवा क्या, हैदराबाद, वहाँ हिन्दू जनता की प्रधानता होते हुए, इसलिए मुसलिम राज्य है कि एक मुसलमान उन लोगों के

भाग्य पर शासन करता है ? मैं ऐसी बात को राष्ट्रवाद के लिए अप-मानजनक समझता हूं। क्या भारतवर्ष इसलिए ईसाई राज्य है कि यहाँ ईसाई बादशाह भाग्य-विधाता है ? यदि भारतवर्ष, किसी भी शासक के होते हुए भारतीय है, तो देशी राज्य भी भारतीय हैं, चाहे शासक होने का संयोग किसी को हो। —म० गाँधी

इस राज्य की कुछ विशेषताएँ—इस राज्य का पूरा नाम 'जम्मू और कशमीर' है। साधारण बोलचाल में कशमीर कहने से दोनों भागों का आशय ले लिया जाता है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह भारतवर्ष की सब से बड़ी रियासत है। इसका क्षेत्रफल ८५ हजार वर्गमील है, परन्तु बहुत सी जमीन पहाड़ी होने के कारण, इसकी जन-संख्या केवल छैंतीस लाख है, जिसमें अठाईस लाख से अधिक मुसलमान हैं। राज्य की सालाना आमदनी पौने पाँच करोड़ रुपये से अधिक है। अधिकांश जनता बहुत गरीब है।

कशमीर की स्थिति अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह राज्य भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सिरे पर है। इसकी कई सौ मील की सीमा अफ़गानिस्तान, चीन और रूस की सीमाओं से मिली हुई है। इस प्रकार भारतवर्ष की इस रियासत का, भौगोलिक दृष्टि से दूसरे तीन राज्यों से सम्बन्ध है।

यह रियासत अपने प्राकृतिक सौंदर्य के कारण बहुत ही प्रसिद्ध है, यहाँ तक इसे पृथ्वी का स्वर्ग माना जाता है। कहावत है—

स्वर्गलोक यदि भूमि पर, तौ है याही ठौर।
जो नाहीं या भूमि पर, या तें सरिस न और॥

सन् १८१६ में महाराजा रणजीतसिंह ने कश्मीर पर अपना अधिकार जमाया। उनके सरदार गुलाब सिंह जी ने इसमें जम्मू और मिला लिया, और वे जम्मू के राजा बना दिये गये। सिक्खों से पंजाब ले लेने पर सन् १८४६ में अंगरेजों ने गुलाबसिंह से ७५ लाख रुपये लेकर कशमीर का

राज्य उन्हें दे दिया। इस प्रकार कशमीरी जनता हिन्दू-डोगरा राजवंश के हवाले कर दी गयी। यही 'अमृतसर की संधि' कहलाती है। इसमें कशमीरी जनता का कोई हाथ नहीं था।

इसी संधि को लेकर सन् १९४६ में कशमीर राष्ट्रीय कान्फ्रेंस द्वारा 'कशमीर छोड़ो' आन्दोलन चलाया गया था, जिसमें कान्फ्रेंस के अध्यक्ष शेख मोहम्मद अब्दुल्ला मई १९४६ को गिरफ़्तार किये गये। और भी बहुत सी गिरफ़्तारियाँ हुईं। पंडित जवाहरलाल नेहरू इस अवसर पर कशमीर के लिए रवाना हुए, पर उनका वहाँ प्रवेश रोका गया। देश भर में कशमीर-आन्दोलन चर्चा का विषय हो गया।

शासनपद्धति; व्यवस्थापकसभा—वर्तमान संगठन के अनुसार प्रजा-सभा में ७५ सदस्य होते हैं—४० निर्वाचित और ३५ नामजद। निर्वाचित सदस्यों में २१ मुसलमानों के, १० हिन्दुओं के, और २ सिक्खों के साम्प्रदायिक निर्वाचक-संघों द्वारा चुने जाते हैं, और ७ विशेष निर्वाचक संघों से। नामजद सदस्यों में ११ सरकारी, और २४ गैर-सरकारी, होते हैं।

निर्वाचित होनेवाले सदस्यों के चुनाव के नियम बने हुए हैं। मताधिकार के लिए आर्थिक योग्यता का परिमाण सर्वसाधारण की आर्थिक अवस्था की दृष्टि से बहुत अधिक है। विशेष निर्वाचक-संघों में से एक, जम्मू राज्य के अन्तर्गत पूँछ और चिनानी जागीरों के ताजीमी सरदारों का है; दूसरा, कशमीर और सीमा-भाग के ताजीमी सरदारों का, तीसरा और चौथा निर्वाचक संघ जागीरदार, माफीदार और मुकर्ररदारों का, पाँचवाँ और छठा निर्वाचक संघ जमींदारों का, और सातवाँ पेन्शन पाने वालों का है। इन निर्वाचक संघों से निर्वाचक सदस्य बहुत थोड़े व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रायः सरकार के समर्थक होते हैं। अतः व्यवस्थापक सभा में नामजद की अपेक्षा निर्वाचित सदस्यों की अधिकता कुछ प्रभावशाली

नहीं है। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिकता के आधार पर निर्वाचन किया जाना भी निन्दनीय ही है।

नामजद किये जानेवाले गैर-सरकारी सदस्यों में से दो हरिजन और दो बौद्ध भी होते हैं, जिन्हें नामजद इसलिए किया जाता है कि इनके निर्वाचक बहुत बिखरे हुए हैं।

व्यवस्थापक सभा के सभापति (प्रेसीडेंट) को स्वयं महाराजा नियुक्त करते हैं, उपसभापति (वाइस-प्रेसीडेंट) सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होता है। सभा के अंडर-सेक्रेटरियों (उपमंत्रियों) की नियुक्ति की व्यवस्था है, ये मंत्रियों के साथ काम करते हैं। इस समय जो चार वैतनिक पार्लिमैंटरी सहायक सेक्रेटरी हैं, उनमें से तीन निर्वाचित सदस्यों में से हैं।

महाराजा, उनका परिवार, जागीरदार, सेना, धर्मादा विभाग आदि कई विषयों पर सभा में कोई विचार नहीं हो सकता। इन्हें छोड़ कर अन्य विषयों के सम्बन्ध में व्यवस्थापक सभा को कानून बनाने, प्रस्ताव करने और प्रश्न पूछने का अधिकार है। परन्तु महाराज सभा के किसी भी निर्णय को रद्द कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि शासन के किसी भी अंश पर व्यवस्थापक सभा का यथेष्ट नियंत्रण नहीं है।

शुल्क (फीस) या आर्थिक दंड से होने वाली आय को छोड़कर, कर सम्बन्धी कानूनी मसविदे व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं; परन्तु इसमें बहुत से संरक्षण हैं, और कई करों के विषय में प्रस्ताव करने से पूर्व व्यवस्थापक सभा को पहले से उसकी अनुमति लेनी आवश्यक होती है।

महाराज तथा उनके परिवार सम्बन्धी खर्च मर्यादित नहीं हैं, इस मद में तथा सेना में राज्य की आर्थिक परिस्थिति के विचार से खर्च बहुत अधिक होता है; और साथ ही व्यवस्थापक सभा का इस पर कोई नियंत्रण नहीं है। बजट की शेष मदों पर व्यवस्थापक सभा मत देती है।

परन्तु मंत्रियों की कौंसिल को यह अधिकार है कि यदि वह किसी मद के सम्बन्ध में यह समझे कि जितना रुपया हमने खर्च के लिए माँगा था, वह काम चलाने के लिए अथवा शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए आवश्यक है तो वह उस मद के लिए उतना रुपया स्वीकृत मान लें, चाहे व्यवस्थापक सभा ने उसकी स्वीकृति न दी हो, अथवा उसमें से कुछ घटा कर स्वीकार किया हो।

मंत्री—राज्य की प्रबन्धकारिणी सभा (एग्जीक्यूटिव कौंसिल) में चार मंत्री, (मिनिस्टर) हैं : —

(१) प्रधान मंत्री, (२) गृह मंत्री, (३) उत्थान या विकास मंत्री (डिवेलपमेंट मिनिस्टर) (४) मिनिस्टर-इन-वेटिंग, इसके अधीन सेना विभाग भी है। इन मंत्रियों को महाराजा साहब नियुक्त करते हैं, इनमें से दो जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों में से लिये जाते हैं।

सन् १९४४ में नेशनल कान्फ्रेंस, के एक सदस्य मिर्जा अफजल मोहम्मद बेग को मंत्री के रूप में लिया गया था, उन्हें सार्वजनिक निर्माण कार्य और म्युनिसपल विभाग सौंपा गया था। सरकारी बाधाओं के कारण वे कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाये। जब सरकार ने नागरिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया और दमन-नीति अपनायी तो उनकी स्थिति बहुत खराब हो गयी। अन्त में नेशनल कान्फ्रेंस ने उनसे इस्तीफा दिला दिया। सरकार ने नेशनल कान्फ्रेन्स से दूसरा प्रतिनिधि न मांग कर खुद ही उस पद के लिए दूसरा व्यक्ति नियत कर दिया।

न्याय—राज्य में न्यायपद्धति ब्रिटिश भारत के ढंग पर है। सर्वोच्च न्यायालय हाईकोर्ट है; उससे नीचे जम्मू और कशमीर की जिला और सेशन अदालतें हैं जिनमें न्यायाधीश चीफजज हैं। उनके अधीन सबार्डिनेट जजों और मुनसिफों आदि की अदालतें हैं। न्याय विभाग को शासन विभाग जुदा किया गया है, इससे न्यायाधीश राज्य के प्रबन्ध विभाग के अधीन न होकर हाईकोर्ट के सामने उत्तरदाई हैं।

स्थानीय स्वराज्य—राज्य में म्युनिसपैलटियाँ दो हैं—श्रीनगर और जम्मू में। कुछ बड़े-बड़े कस्बों में टाउन-एरिया कमेटी हैं। दोनों प्रकार की संस्थाओं में निर्वाचित और नामजद सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर है, सभापति सरकारी हैं, और उन्हें प्रबन्ध करने तथा कर लगाने के सम्बन्ध में बहुत अधिकार हैं। इसमें शीघ्र सुधार होना चाहिए।

शिक्षा—श्रीनगर और जम्मू में लड़कों एवं लड़कियों के लिए कालिज हैं। इन्हीं स्थानों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है। राज्य में कुछ संस्थाओं को सरकारी सहायता भी दी जाती है। सन् १६४१ से राज्य के धर्मार्थ विभाग की ओर से हिन्दू मन्दिरों में हिन्दी और संस्कृत की पाठशालाएँ स्थापित करने की व्यवस्था हुई है। अभी शिक्षा का प्रचार बहुत कम है; केवल छः फीसदी व्यक्तियों का शिक्षित होना खेद-जनक है। प्रश्न तो यह भी विचारणीय है कि भारतवर्ष भर का यह सबसे बड़ा राज्य विश्वविद्यालय के लिए अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था कब करेगा।

अन्य बातें—गैर-सरकारी सदस्यों के बहुमत वाली एक जाँच समिति को कई महत्वपूर्ण विषयों की जांच करने का अधिकार है। अल्पसंख्यक जातिवालों के लिए निम्नलिखित संरक्षणों की व्यवस्था है—(१) गोवध निषेध कानून, हिन्दू उत्तराधिकारी कानून, देवस्थानों के सम्बन्ध में पहले की सी हालत (स्टेटस को') बना रहना, (२) नौकरियों के लिए योग्यता का ही मापदण्ड होना, और (३) दोनों लिपियों में हिन्दुस्तानी का राज-भाषा, और शिक्षा का माध्यम होना।

———

बाइसवाँ अध्याय

पंजाब के राज्य

पंजाब में छोटे-बड़े सब ३६ देशी राज्य हैं। इनमें से २२ शिमला पहाड़ी राज्य कहलाते हैं। पहले इनके ही बारे में लिखा जाता है।

शिमला पहाड़ी राज्य—ये राज्य प्रायः बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें से मुख्य ये हैं—बशहर, भज्जी, बिलासपुर (कहलूर), सिरमौर (नाहन) आदि। प्रबन्ध की दृष्टि से भारत-सरकार टेहरी की भी इन्ही राज्यों में गणना करती रही है, परन्तु यह वास्तव में संयुक्तप्रान्त में है। पंजाब के इन राज्यों में कई बातों में न्यूनाधिक समानता है। बहुत से राज्यों में अंगरेजी शासनपद्धति की भद्दी और घातक नकल की जाती है। कई राज्यों में केवल दिखावे के लिए भिन्न-भिन्न विभागों के मंत्री तथा अन्य पदाधिकारी नियुक्त हैं। छोटे राज्यों के लिए यह निरा मज़ाक है। इसमें बहुत द्रव्य बरबाद होता है, पर उन्हें तो बड़े-बड़े पदों और संस्थाओं द्वारा राज्य का बड़प्पन दिखाने से मतलब है। पदों की संख्या या कार्य निर्धारित नहीं है। शासक जब चाहें, नया पद निर्माण कर देते हैं, और उस पर अपने किसी कृपापात्र को बैठा देते हैं, चाहे उसमें यथेष्ट योग्यता हो या न हो। ये राज्य छोटे-छोटे होते हुए भी दमन में कुछ कम नहीं रहे हैं। अत्याचार करने में बिलासपुर और टेहरी के राजाओं ने सब से ज्यादह नाम पाया है। टेहरी में एक असेम्बली है पर वह अधिकतर जमींदारों, पूँजीपतियों और मध्यश्रेणी वालों की ही संस्था है।

पंजाब के दूसरे राज्य—पंजाब के दूसरे राज्यों में मुख्य ये हैं—पटियाला, झींद, नाभा, कपूरथला, मलेरकोटला, बहावलपुर, खैरपुर, चम्बा और सुकेत। इनमें से प्रथम तीन अर्थात् पटियाला, झींद और नाभा फुलकियाँ रियासतें कहलाती हैं। इन तीनों के शासकों का पूर्वज

फूल नामक सिद्ध-जाट था। इनके वर्त्तमान शासक सिक्ख धर्मानुयायी है। इनकी शासन-नीति कुछ वर्ष पहले तक बहुत-कुछ एकसी रही है। सन् १६३१-३२ के सत्याग्रह आन्दोलन के समय इन राज्यों में नागरिक स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगानेवाला 'फुलकियां कानून' बनाया गया था, उसका कुछ अनुकरण पंजाब के अन्य राज्यों में भी हुआ।

बहुत से राजाओं को दलबन्दी का रोग बुरी तरह लगा हुआ है। प्रायः बड़े बड़े ओहदेदार और अहलकार दो पार्टियों में से किसी एक में अवश्य होते हैं। वे प्रत्येक बात को दलबन्दी की दृष्टि से देखते हैं।

जनता पर लगान और करों का भार बहुत अधिक है। इससे किसानों तथा जमींदारों की हालत बहुत खराब है। कोई उद्योग-धंधा पनपने नहीं पाता, पुराने धन्धे भी नष्ट होते जा रहे हैं। राज्यों की आमदनी का एक बड़ा भाग तो राजाओं की व्यक्तिगत तथा पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही लग जाता है। जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि-सुधार, औद्योगिक उन्नति आदि के लिए बहुत कम धन रहता है।

जनता की नागरिक स्वाधीनता की बात लीजिए। तरह-तरह के आर्डिनेंस या फरमान नागरिक अधिकारों का अपहरण करने के लिए बने रहते हैं, जिनके कारण सार्वजनिक सभाएँ स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं हो सकतीं, भाषण नहीं दिये जा सकते, पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित नहीं की जा सकतीं। जिन नागरिकों में स्वाभिमान होता है, जो बेगार आदि अनुचित माँगों को स्वीकार नहीं करते, उनको किसी न किसी बहाने, बिना वारंट गिरफ़ार और नजरबन्द किया जा सकता है, तथा बहुत कष्ट दिया जा सकता है।

पटियाला

पटियाला पंजाब के राज्यों में प्रमुख है। इसका क्षेत्रफल १६४२ वर्गमील, आबादी (१६४१ की गणना के अनुसार) २० लाख, और

आमदनी दो करोड़ सैंतालीस लाख रुपये हैं। पंजाब के राज्यों में इस राज्य का क्षेत्रफल में दूसरा और आय में पहला स्थान है।

पटियाला के शासक ब्रिटिश साम्राज्य के बड़े सहायक और समर्थक रहे हैं। भूतपूर्व महाराज भूपेन्द्रसिंह ने पिछले योरोपीय महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार की खूब सहायता की। सन् १९१८ में ये इगलैंड गये और इन्होंने साम्राज्य-युद्ध-परिषद में भाग लिया। ये कई वर्ष नरेन्द्र-मंडल के सभापति रहे तथा इन्होंने लन्दन के गोलमेज सभा के सन् १९३० के अधिवेशन में राजाओं की ओर से भाग लिया। इनके विरुद्ध जनता ने दुराचार सम्बन्धी कई गम्भीर अभियोग खुले आम लगाये थे। १९३८ में इनका देहान्त हो जाने पर इनके पुत्र महाराज यादवेन्द्र सिंह जी गद्दी पर बैठे।

शासन-प्रबन्ध और मन्त्री—शासन के विचार से राज्य पाँच निजामतों (जिलों) में विभक्त है। प्रत्येक निजामत एक नाजिम के अधीन है। नाजिम के नीचे दो तीन नायब नाजिम होते हैं। शासन सम्बन्धी सर्वाधिकार महाराज को हैं, उनके कार्य में सहायता देने केलिए मंत्रियों की एक कौंसिल है। मंत्री महाराज के ही प्रति जिम्मेवर होते हैं, और तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक महाराज चाहें। महाराज मंत्री-सभा (कौंसिल) के सभापति होते हैं। महाराज की अनुपस्थिति में प्रधान मंत्री मंत्रिसभा के अधिवेशन में सभापति का आसन ग्रहण करता है, वैसे वह उपसभापति होता है। इजलास खास में अकेले महाराज ही हैं, उन्हें मंत्रियों के निर्णय रद्द करने का अधिकार है।

राज्य में मंत्री नीचे लिखे हैं:—१—प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री, २—माल मन्त्री, ३—उन्नति और स्वास्थ्य मन्त्री, ४—राजस्व मन्त्री, ५—विदेश और शिक्षा मन्त्री। अधिकांश मन्त्री पटियाला राज्य से बाहर के रखे जाते हैं। मंत्री तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पद प्रायः सिक्खों के लिए सुरक्षित रहते हैं।

व्यवस्थापक सभा का अभाव—राज्य में कोई व्यवस्थापक सभा नहीं है। कानून बनाने का काम इजलास खास के सुपुर्द है। सन् १९३८ में स्व० महाराज ने व्यवस्थापक सभा सम्बन्धी विधान बनाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी, परन्तु वह केवल राजनीतिक विभाग तथा जनता को भ्रम में डालने की कागजी कार्यवाही थी। महाराज का देहान्त हो जाने पर वह समाप्त हो गयी। महायुद्ध बन्द हो जाने पर अक्तूबर १९४५ में सरकारी सूचना प्रकाशित की गयी कि नौ मेम्बरों की कमेटी राज्य के वैधानिक सुधारों के विषय में रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त की जायगी। कमेटी के सदस्य ऐसे रखे गये जो जनता के भावों और आकांक्षाओं से अपरिचित थे और जिनमें जनता का कोई विश्वास नहीं था।

न्याय प्रबन्ध—न्याय विभाग चीफ-जस्टिस के नियंत्रण में है। हाईकोर्ट में चीफ-जस्टिस को मिलाकर पाँच जज हैं। चीफ-जस्टिस प्रबन्ध सम्बन्धी काम भी करता है। एक न्याय-कमेटी नियुक्त है, जो अपील की सब से ऊँची अदालत का काम करती है। इस कमेटी में कभी-कभी सिर्फ एक ही सदस्य होता है। न्यायकर्ता स्वतंत्र नहीं है। अनेक दशाओं में शासन और न्यायकार्य एक ही ओहदेदार के हाथ में होता है। वह फैसला आजादी से नहीं दे सकता; उचित न्याय होने में बहुत बाधा होती है।

स्थानीय स्वराज्य—राज्य में कोई म्युनिसिपल कानून नहीं है। केवल पटियाला शहर में एक सरकारी म्युनिसपेलटी है। इसमें जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं है, सरकारी और नामजद व्यक्ति ही हैं। सन् १९३९ में राज्य में पंजाब का १९१३ का छोटा कस्बा-कमेटी-कानून कुछ काट-छाँट करके जारी किया गया। यह ऐसे कस्बों में लगा, जिन की आबादी ५,००० या इससे अधिक थी, यही कानून भटिंडा और नारनौल नगरों में लगा, यद्यपि इनमें से प्रत्येक की आबादी २५,०००

के लगभग है। इन कमेटियों में सरकारी आदमियों का बोलबाला रहता है। इनकी कोई स्वतंत्र आय नहीं है। चुङ्गी की आमदनी भी सरकारी खजाने में चली जाती है।

हरेक 'ज़ैल' में पंचायतें और देहात-सुधार कमेटियाँ हैं, जिन्हें १००) रु० तक के दीवानी मामलों का अधिकार है। यह व्यवस्था पंचायत-कानून द्वारा लगभग पैंतालीस वर्ष हुए की गयी थी। यद्यपि सन् १६४४ में कुछ परिवर्तन किये गये हैं, अभी तक वास्तविक सुधार नहीं हुआ। इनका कार्य छोटी-छोटी वेतन पानेवाले सरकारी कर्मचारियों के सुपुर्द है, और इनके द्वारा जनहितकारी कार्य नहीं हो रहा है।

शिक्षा और स्वास्थ्य आदि—राज्य में सिर्फ दो कालिज तथा कुछ हाई स्कूल और मिडल स्कूल आदि हैं। कन्याओं की शिक्षा के लिए अलग संस्थाएँ हैं। कुछ प्राइवेट स्कूलों को राज्य की ओर से सहायता मिलती है। राज्य ने खालसा कालिज अमृतसर, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, सिक्ख कन्या महाविद्यालय फिरोजपुर, तिब्बिया कालिज देहली आदि को समय-समय पर अच्छी सहायता दी है। परन्तु स्वयं पटियाला राज्य में शिक्षा-प्रचार की बहुत उपेक्षा है। देहातों में लड़कों के स्कूल बहुत कम हैं, और लड़कियों के लिए तो प्रायः हैं ही नहीं। राज्य में कुल मिला कर मुश्किल से चार फी सदी आदमी शिक्षित है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य की अलग व्यवस्था नहीं है, वह चिकित्सा विभाग के साथ मिला हुआ है। सिर्फ पटियाला शहर तथा जिलों के केन्द्रीय स्थानों में अस्पताल और शफाखाने हैं उनकी भी दशा अच्छी नहीं। देहातों में तो शफाखाने हैं ही नहीं। जनाना अस्पताल राज्य भर में एक ही है। करों की अधिकता के कारण राज्य की आमदनी बढ़ी हुई है। पर जहाँ सिर्फ, महाराजा और उनके परिवार के लिए कुल मिलाकर अठारह-बीस लाख रुपये खर्चकर दिये जाते हैं, बीस लाख जनता की शिक्षा स्वास्थ्यादि के लिए चौदह-पन्द्रह लाख रु० ही खर्च होते हैं।

बजट पर जनता का कोई नियंत्रण नहीं है, वह प्रकाशित ही नहीं होता।

विशेष वक्तव्य—हाल में (सन १९४७) पटियाला महाराजा ने एक अन्तःकालीन सरकार के निर्माण की घोषणा की है, इसमें चार मंत्री होंगे, जिनमें से दो गैर-सरकारी होंगे, [यह ज़रूरी नहीं कि वे निर्वाचित या लोक प्रिय हों]—महाराज ने अपने तत्वावधान में पूर्ण उत्तरदायी शासन के आधार पर राज्य के लिए विधान बनाने का निश्चय प्रकट किया है ; यह अप्रेल १९५२ तक पूरा होगा !!!

तेइसवाँ अध्याय

पश्चिमोत्तर भारत के राज्य

भारत के पश्चिमोत्तर भाग में आठ राज्य हैं—पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ५, और बलोचिस्तान में ३। सीमा प्रान्त के राज्यो में यद्यपि जनसंख्या और आय दीर की अधिक है, क्षेत्रफल में चित्राल बड़ा है। इसकी सीमा अफगानिस्तान और रूस से मिली होने के कारण इसका महत्व भी अधिक है। इसका क्षेत्रफल ४००० वर्गमील, जनसंख्या एक लाख से अधिक, और वार्षिक आय साढ़े तीन लाख रुपये है। पहाड़ी प्रदेश है, हाँ घाटियाँ बहुत उपजाऊ हैं। शासक का पद 'मेहतर' है।

कलात

यह राज्य बलोचिस्तान में ही नहीं, पश्चिमोत्तर भारत भर में प्रमुख है। यह भारतवर्ष के उन तीन राज्यों में से है, जिनका क्षेत्रफल ५०,००० वर्गमील से अधिक है।* (खराँ सहित) इसका क्षेत्रफल ५४,७०० वर्गमील, जनसंख्या सवा तीन लाख और वार्षिक आय सवा सोलह लाख रुपए है।

*क्षेत्रफल की दृष्टि से भारतवर्ष में सबसे बड़ा राज्य कश्मीर, और उससे छोटा हैदराबाद है। तीसरा नम्बर कलात का ही है।

शासन-प्रबन्ध—राजवश सुन्नी मुसलमान हैं, और शासक का पद 'खान' है। कलात कई कबीलों (उपजातियों) का समूह है, उनके सरदार कलात के खान को प्रधान मानते हैं। खान की अधीनता में राजप्रबंध वजीर-आजम (प्रधान मंत्री) द्वारा होता है, जिन्हें वजीरों (मंत्रियों) से सहायता मिलती है। मंत्रियों को माल, सार्वजनिक निर्माण-कार्य, शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा, तथा न्याय विभाग सुपुर्द हैं। इन पदाधिकारियों के अतिरिक्त, खान की एक स्टेट कौंसिल है, इस में मुख्य-मुख्य सरदार होते हैं। सब महत्व के विषयों पर इस कौंसिल को सलाह ली जाती है। दीवानी और फौज-दारी मामलों का फैसला 'जिर्गा' प्रथा के अनुसार होता है, जिसका आधार रिवाजी कानून है। अपील वजीर-आजम के यहाँ या स्टेट-कौंसिल में होते हैं, और दया के लिए प्रार्थनापत्र खान की सेवा में भेजा जाता है। राज्य के चार भाग मुख्य हैं—सरवान (उच्चप्रदेश) झालावान (निचला प्रदेश) कच्छी और मकरान। प्रत्येक भाग एक वजीर या नायब वजीर के अधीन है। जहाँ जमीन सैनिक सेवा की शर्त पर, बिना मालगुजारी, दी हुई है, वहाँ सरदार अपने-अपने कबीले के उचित प्रबन्ध के लिए खान के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मालगुजारी देनेवाले क्षेत्र 'नियाबत' कहलाते हैं, इनमें प्रबन्ध के लिए जो अधिकारी रहते हैं, उन्हें मस्तौफी कहा जाता है।

मकरान में बहुत सा समुद्र-तट है, और राज्य पसनी और जीवानी के बन्दरगाहों पर अपना आयात-निर्यात-कर वसूल करता है। राजधानी कलात नगर है, परन्तु साल में लगभग चार महीना खान भादर (कच्छी प्रान्त) में रहता है।

———

चौबीसवाँ अध्याय

काठियावाड़ और गुजरात के राज्य

[भावनगर और बड़ौदा]

[१]

काठियावाड़ के राज्य—काठियावाड़ प्रदेश में छोटे-बड़े कुल मिला कर २८५ राज्य हैं। राज्यों की संख्या इस प्रदेश में सबसे अधिक है। यह संख्या कुल देशी राज्यों की आधी के लगभग है। इनके आकार तथा शासन में बहुत विभिन्नता है। कुछ बहुत बड़े हैं तो अधिकांश राज्य अत्यन्त छोटे हैं। एक ओर कच्छ का राज्य है, जिसका क्षेत्रफल ८२५० वर्गमील, और जनसंख्या सवा पाँच लाख है, दूसरी ओर विजानोनेस राज्य का क्षेत्रफल एक-तिहाई वर्गमील से भी कम है, सन् १९३१ की मनुष्यगणना के अनुसार यहाँ केवल २०६ आदमी रहते थे।* इसी प्रकार जहाँ भावनगर की वार्षिक आय सवा करोड़ रुपये है, विजानोनेस की केवल पांच सौ रुपये ही है। यही नहीं, कुछ रियासतें एक-एक वर्गमील क्षेत्रफल की होते हुए भी दो-दो तीन-तीन हिस्सेदारों में विभक्त हैं! पुरानी भारत-सरकार की नीति के कारण काठी राज्यों को अपने बंदरगाहों की उन्नति करने में बहुत बाधाएँ रहीं, तो भी धीरे-धीरे उनकी उन्नति हुई है।

काठियावाड़ की प्रमुख रियासतें भावनगर, गोंडल, नवानगर, और जूनागढ़ है। इनमें से गोंडल की विशेषता यह है कि पिछले वर्षों में यहां जनता बहुत से करों से मुक्त कर दी गयी है, अब लोगों पर प्रायः कोई कर नहीं लगता। परन्तु यह होते हुए इस प्रदेश की दूसरी

---

* इस राज्य की सन् १९४१ की जनसंख्या के अंक नहीं मिल सके।

रियासतों की तरह यहां एकतंत्री शासन है, वह राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर है, जनता के प्रति उत्तरदाई नहीं।

आगे भावनगर की शासनपद्धति दी जाती है।

भावनगर

यह राज्य काठियावाड़ प्रायद्वीप में खम्भात की खाड़ी पर है। इसका क्षेत्रफल २९६१ वर्गमील, जनसंख्या ५ लाख से अधिक और वार्षिक आय लगभग दो करोड़ रुपये हैं। इस राज्य की प्रधानता इसके बन्दरगाहों के कारण है। उनके द्वारा कई करोड़ रुपये का माल देश में आता है। राजधानी भावनगर नाम का ही नगर है। यहाँ के शासक गोहल राजपूत हैं।

शासन और व्यवस्था—महाराजा साहब दीवान की सहायता से शासन करते हैं। यहां भावनगर प्रज-परिषद सन् १९२३ से संगठित है, और उत्तरदाई शासन के लिए आन्दोलन करती रही है, तथापि राज्य में शासन-सुधारों को गति बहुत धीमी रही है। सन् १९४२ में कुछ विभाग एक मंत्री को सौंपना स्वीकार किया गया। व्यवस्थापक सभा में ५५ सदस्य होते हैं—३३ निर्वाचित और २२ नामजद। यह कितना असंतोषजनक है, यह स्पष्ट ही है।

न्याय प्रबन्ध—फौजदारी के मामलों का फैसला करने के लिए मजिस्ट्रेटों की अदालतें, सेशन कोर्ट; और अपील सुनने वाली अदालतें हैं। इसी प्रकार दीवानी की प्रारम्भिक (आरिजिनल) अधिकार वाली तथा अपील सुनने वाली संस्थाएँ हैं।

म्युनिसपेलटियाँ—म्युनिसपेलटियों में केवल भावनगर शहर की म्युनिसिपेलटी का प्रबन्ध अधिकांश में जनता को सौंपा गया है। अन्य म्युनिसपेलटियाँ प्रायः सरकारी संस्थाएँ हैं, और राज्य के खर्च से चलती हैं।

शिक्षा—शिक्षा-प्रचार की ओर गत वर्षों में अच्छा ध्यान दिया

गया है। राज्य में एक कालिज तथा कुछ हाई स्कूलों के अतिरिक्त कितनी ही सरकारी अथवा सरकार द्वारा सहायता-प्राप्त शिक्षा संस्थाएँ हैं। राज्य के जो विद्यार्थी राज्य से बाहर शिक्षा पाते हैं, उन्हें सहायता दी जाती है। लड़कियों की शिक्षा के लिए अलग स्कूल हैं। हरिजन विद्यार्थियों को शिक्षा-प्राप्ति की बहुत सी सुविधाएँ हैं।

इस राज्य के 'स्टेट बेंक' में काफ़ी रुपया जमा है। भावनगर तथा अन्य देशी राज्यों की जनता के अतिरिक्त, प्रान्तों की, एवं भारतवर्ष से बाहर (जंजीबार, ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका, और स्टेट सेटलमेंट) की भी जमा इसमें रहती है।

किसानों की ऋण-मुक्ति—इस राज्य के दीवान सर प्रभाशंकर पट्टनी ने मालूम किया कि राज्य भर के किसानों पर ८६ लाख रुपया ऋण है। उन्होंने महाजनों को एकमुश्त तीस लाख रुपये राज्य से देकर किसानों को ऋण-मुक्त करा दिया और यह रुपया किसानों से किश्तों में वसूल कर लिया। स्मरण रहे कि किसान अपने ऋण पर पहले लाखों रुपये केवल सूद में ही दिया करते थे, अब उन्हें इससे छुट्टी मिल गयी। इसके अतिरिक्त, राज्य की ओर से कृषि-बैंकों और सहकारी साख-समितियों की भी यथेष्ट व्यवस्था की गयी। इससे उनकी आर्थिक दशा में बहुत सुधार हुआ और खेती अच्छी तरह होने लगी। राज्य ने यह भी व्यवस्था कर दी कि मालगुजारी वसूल करने की निर्धारित तारीख के सम्बन्ध में जो नियम है, उसका कठोरता से पालन न किया जाय; वरन् उसमें ऐसी ढील रहे जिससे किसानों को सुविधा रहे।

खेद है कि जिस राज्य ने जनता की उन्नति के लिए ऐसा कार्य किया, वह भी शासन-सुधारों में समुचित प्रगति का परिचय नहीं दे रहा है।

[२]

गुजरात के राज्य—गुजरात में ८२ राज्य हैं; क्षेत्रफल जनसंख्या

और आय की दृष्टि से इनमें से बारह ही कुछ महत्व के हैं—बड़ौदा, बालसिनोर, बाँसड़ा, बरिया, केम्बे, छोटा उदयपुर, धरमपुर, जौहर, लूनाबाड़ा, राजपीपला, सचिन और सन्त; इनमें बड़ौदा प्रमुख है। शेष सत्तर राज्य बहुत छोटे-छोटे हैं, यहाँ तक कि कितने ही राज्य ऐसे हैं, जिनमें से एक-एक का क्षेत्रफल एक वर्गमील और जनसंख्या सौ से भी कम है। इन राज्यों की स्थिति और समस्याएँ काठियावाड़ के राज्यों की ही तरह है।

बड़ौदा

इस राज्य का क्षेत्रफल आठ हजार वर्गमील, और जनसंख्या २५ लाख से अधिक है। इस राज्य के पाँच भाग हैं, उनके बीच में प्रान्तों तथा अन्य देशी राज्यों के कुछ भाग आ गये हैं। बड़ौदा उन बहुत थोड़े से राज्यों में है; जहाँ औद्योगिक और व्यावसायिक उन्नति का यथेष्ट क्षेत्र हो। यहाँ वार्षिक आय लगभग साढ़े चार करोड़ रुपये है।

शासन—सन् १९४० की घोषणा के अनुसार राज्य की प्रबन्ध-कारिणी सभा में दीवान के अतिरिक्त तीन अन्य सदस्य होते हैं, जिनमें से एक धारा सभा (व्यवस्थापक सभा) के निर्वाचित सदस्यों में से चुना हुआ होता है। गैर-सरकारी सदस्य अपने पद पर धारा सभा के जीवन-काल अर्थात् तीन साल तक रहता है। शासन-कार्य भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त है, और उन पर नियमानुसार विविध अधिकारी नियत रहते हैं।

व्यवस्थापक सभा—बड़ौदा राज्य में धारा सभा (लेजिस्लेटिव कौंसिल) की स्थापना सन् १९०८ ई० में की गयी थी। उस समय इसमें २७ सदस्य थे, जो सबके सब नामजद होते थे। सब सदस्यों का नामजद किया जाना बहुत चिन्तनीय रहा। अन्त में महाराज प्रतापसिंह जी ने धारा सभा के सुधार पर विचार करने के लिए एक

कमेटी नियुक्त की। पश्चात् सन् १६४० में नया विधान बनाया गया, उसके अनुसार धारा सभा में सभापति (दीवान) सहित ६० सदस्य होते हैं—३७ निर्वाचित और २३ नामजद। नामजद सदस्यों में से ६ सरकारी और १४ गैर-सरकारी होते हैं। निर्वाचक संघ संयुक्त हैं।

धारा सभा का सभापति दीवान होता है। उपसभापति (डिप्टी प्रेसीडेन्ट) धारा सभा द्वारा निर्वाचित होता है। सभा के गैर-सरकारी सदस्यों में से दो व्यक्ति महाराजा साहब द्वारा पार्लिमेन्टरी सेक्रेटरी नियुक्त किये जाते हैं।

महाराजा साहब का राजपरिवार, सेना, रियासती ऋण, तथा अन्य राज्यों से की हुई संधियों का विषय व्यवस्थापक सभा के क्षेत्र से बाहर हैं। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गयी है कि धारा सभा में उन अन्य विषयों पर भी विचार न होगा, जो समय-समय पर महाराजा साहब निश्चय करें। यह नियम बहुत व्यापक है, और इससे धारा सभा के अधिकारों पर भारी आघात होता है। बड़ौदा जैसे उन्नत राज्य में इसका होना बहुत खटकता है।

न्याय—राज्य की न्याय सम्बन्धी सर्वोच्च संस्था हाईकोर्ट (वरिष्ठ न्यायालय) है। इसके फैसलों की अपील कभी-कभी महाराज साहब के पास की जाती है, जो 'हजूर न्याय-सभा' के परामर्श से फैसला करते हैं। हाईकोर्ट में तीन जज हैं। राज्य में जिलों की अदालतें, तथा अधीन अदालतें हैं। न्याय-कार्य शासन से पृथक् है।

प्रान्तीय शासन—शासन-प्रबन्ध के लिए राज्य पाँच 'प्रान्तों' में विभक्त है। इन प्रान्तों को हमारी दृष्टि से ज़िले ही कहना ठीक होगा। अस्तु, प्रत्येक 'प्रान्त' के अन्तर्गत कुछ महाल और पेट-महाल हैं। ग्रामों में पंचायतों का यथेष्ट सङ्गठन है।

शिक्षा आदि—शिक्षा और समाज-सुधार में यह राज्य ब्रिटिश भारत से भी आगे रहता आया है। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य और

निश्शुल्क करने का श्रीगणेश सर्वप्रथम यहाँ सन् १८९३ ई० में परीक्षार्थ एक जिले में किया गया था। पीछे सन् १९०६ ई० में इसे व्यापक किया गया। बड़ौदा अपने पुस्तकालय एवं व्यायामशाला के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। इस राज्य में २३ प्रतिशत व्यक्ति पढ़े-लिखे हैं। बालिग व्यक्तियों की निरक्षरता निवारण करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। समाज-सुधार के कई कानून—बाल-विवाह निषेध कानून, जातीय अत्याचार निवारण कानून, आदि बनाये गये हैं। खेती की उन्नति के लिए गाँवों में खूब प्रचार किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि बड़ौदा एक उन्नत और प्रगतिशील राज्य है। परन्तु खेद है कि इस राज्य में भी प्रजा की आर्थिक और नागरिक स्थिति अच्छी नहीं रही है।

पच्चीसवाँ अध्याय

राजपूताने के राज्य

[बीकानेर, जोधपुर, मेवाड़, जयपुर और शाहपुर]

राजस्थान के अधिकांश राजाओं ने भीलों, मीणों, योधेयों और जाटों के गणतन्त्रों को बेशक अपनी तलवार के जोर से निर्दयतापूर्वक खत्म कर दिजा। पर उनके खुद का वृथाभिमान भी मुगल बादशाहों, मराठा सेनापतियों और अंगरेज बनियों के आगे न टिक सका।

—विजयसिंह 'पथिक'

साधारण परिचय—राजपूताने में इस समय छोटे-बड़े तेईस राज्य हैं—उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, बूँदी, कोटा, अलवर, भरतपुर, धौलपुर, डूंगरपुर, झालावाड़, करौली, बाँसवाड़ा, किशनगढ़, पालनपुर, परतावगढ़, शाहपुरा, सिरोही, टोंक, बांसवाड़ा, जैसलमेर,

कुशलगढ़ और लावा। पहले यहाँ केवल तीन ही राज्य थे—(१) मेवाड़, (२) मारवाड़ और (३) आमेर (जयपुर)। समस्त राजपूताना इनके ही अधीन था। इस समय जो २३ राज्य हैं, वे या तो इन्हीं राज्यों के तत्कालीन राजाओं के वंशजों के स्थापित किये हुए हैं, या वे उनकी जागीरें थीं, जो पीछे स्वतन्त्र हो गयीं। राजपूताने के वर्तमान राज्यों में से दो (भरतपुर और धौलपुर) में राजवंश जाट हैं, दो (टोंक और पालनपुर) में मुसलमान हैं, और शेष १६ में राजपूत हैं। लम्बाई-चौड़ाई की दृष्टि से यहाँ सबसे बड़ा राज्य मारवाड़ है, और जनसंख्या की दृष्टि से जयपुर। लावा दोनों दृष्टियों से सबसे छोटा है।

शिक्षा आदि—शिक्षा के विचार से राजपूताना बहुत पिछड़ा हुआ है। यहाँ के जिस झालावाड़ राज्य में सबसे अधिक शिक्षित व्यक्ति है, वहाँ भी उनकी संख्या कुल आबादी की सिर्फ आठ फी सदी है। कई वर्षों की चर्चा के बाद जनवरी १९४७ में, जयपुर में राजपूताना विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। भारतवर्ष में यही ऐसा विश्वविद्यालय है, जो कई रियासतों के संगठन का परिणाम है। इस वर्ष उदयपुर में महाराणा प्रताप विश्वविद्यालय स्थापित हुआ है।

राजपूताने के राज्यों में भाषा, रहन-सहन, संस्कृति, इतिहास आदि की दृष्टि से बहुत-कुछ एकता है। यदि राजा लोग संगठित होकर जनता की उन्नति में लगें तो शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, न्याय-प्राप्ति आदि की विविध सुविधाएँ सहज हो सकती हैं।

जागीरी प्रथा—राजपूताना में जागीरी प्रथा बहुत है, यहाँ तक कि जोधपुर राज्य के अस्सी फी सदी हिस्से में जागीरदारी है। जागीरदारों के अधिकार भिन्न-भिन्न राज्यों में तरह तरह के हैं। मिसाल के तौर पर जोधपुर राज्य में ठिकानों के दो भेद हैं—अख्तयारी और बेअख्तयारी। बेअख्तयारी ठिकानों को न्याय और शासन सम्बन्धी अधिकार नहीं है।

इनमें अदालतें और पुलिस आदि राज्य की ही होती है। अख्तयारी ठिकानों की अपनी पुलिस तथा अदालतें होती हैं। अदालतें तीन श्रेणियों की रहती हैं। प्रथम श्रेणी की जागीरी अदालत ६ मास तक की सजा के योग्य फौजदारी मामले सुन सकती है, ५०० रु० तक जुर्माना कर सकती है तथा एक हजार रु० तक की दीवानी डिगरी जारी कर सकती है। उत्तराधिकारी आदि के अन्य दीवानी मामलों में इन्हें सबजजी के अधिकार होते हैं। दूसरी और तीसरी श्रेणियों की अदालतों के अधिकार क्रमशः कम हैं।

जागीरदारों के इन अधिकारों के कारण, जनता पर बहुत कुशासन होता है, और उससे बहुत से गैर कानूनी कर, लाग, तथा बेगार आदि ली जाती है। राजपूताने में शिक्षा का प्रचार कम होने, तथा उद्योग-धंधों आदि की उन्नति न होने का एक प्रधान कारण जागीरदारी प्रथा भी है। इस प्रथा के कारण राजाओं की जागीरी इलाकों से आमदनी कम होती है, और जागीरदार स्वयं अपने क्षेत्र में कोई उन्नति का कार्य करना नहीं चाहते। यही नहीं, वे नागरिकों के साधारण अधिकारों का अपहरण करते हैं, और उन्हें तरह-तरह के कष्ट देते हैं। राजा लोग कुछ तो वैसे ही सुधारक मनोवृत्ति के नहीं हैं, और प्रायः जागीरदारों का पक्ष लेते हैं; फिर उनमें इतना साहस नहीं है कि वे जागीरदारों की शक्ति का विरोध करके इन क्षेत्रों में कुछ उन्नतिमूलक कार्य करें। परिस्थिति यहाँ तक चिन्तनीय है कि गुलामी की प्रथा, कानून द्वारा बन्द की जाने पर भी व्यवहार में प्रचलित है। जागीरी इलाकों में कई जातियों की लड़कियाँ दहेज में धन की तरह दे दी जाती हैं, और इसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाती।

अब नमूने के तौर से राजपूताने के कुछ अलग-अलग राज्यो की शासनपद्धति दी जाती है।

बीकानेर

इस राज्य का क्षेत्रफल २३,३१७ वर्गमील है। विस्तार की दृष्टि से इसका भारतवर्ष के सब राज्यों में सातवाँ और राजपूताने में दूसरा नम्बर है। जनसंख्या (१९४१ की गणना के अनुसार) १२,९२,९३८ और वर्षिक आय तीन करोड़ रु० से अधिक है।

महाराजा श्री० गंगासिंह (१८८७-१९४३) ने ब्रिटिश सरकार की खैरख्वाही, प्रभावशाली भाषणों और जनता के दमन में बड़ा नाम पाया। आप नरेन्द्र मंडल के प्रथम चांसलर थे। सन् १९४३ में आपके पुत्र श्री सादूर्लसिंह जी गद्दी पर बैठे।

शासन-प्रबन्ध—महाराज के मंत्री निम्नलिखित हैं:—(१) प्रधान मंत्री (२) रेवन्यू (माल) मंत्री (३) होम (गृह) मंत्री (४) आर्मी (सेना) मंत्री (५) पी० डब्ल्यू० (सार्वजनिक निर्माण) मंत्री (६) कालोनाइजेशन (उपनिवेश) मंत्री। अन्तिम मंत्री का सदर मुकाम गंगानगर है। दूसरे बीकानेर में रहते हैं, ये बहुत कम शिक्षित हैं, प्रायः सब राजपूत, और महाराजा के रिश्तेदारों या सरदारों में से होते हैं। मंत्रियों को महाराजा अपनी इच्छानुर नियुक्त तथा बरखास्त करते हैं। ये व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई नहीं हैं, उसका इन पर कोई नियंत्रण नहीं है। प्रत्येक मंत्री को अपने-अपने विभाग में किसी कर्मचारी को रखने, निकालने, उस पर जुर्माना करने या उसे मुअत्तल करने (कुछ समय के लिए काम से हटाने) का अधिकार है। परन्तु वास्तव में सारे अधिकार प्रधान मंत्री की सलाह पर निर्भर हैं, जो प्रायः स्वयं महाराज का कुटुम्बी, और कौंसिल में अत्यन्त प्रभावशाली होता है। *

व्यवस्थापक सभा—यहाँ व्यवस्थापक सभा ('असेम्बली') की स्थापना सन् १९१३ में हुई थी। परन्तु मुद्दत तक इसका सगठन पुराने

*बीकानेर के गैर-राजपूतों को प्रायः इस पद पर काम करने का अवसर नहीं दिया जाता।

ढँग का ही रहा—नामजद सदस्यों की अधिकता रही और निर्वाचन अप्रत्यक्ष अर्थात् म्युनिसपेलटियों, जिला बोर्डों, जमीदार बोर्डों द्वारा या मुट्ठी भर सरदारों द्वारा होता रहा। सन् १९४५ से इसके ५१ सदस्यों में से २९ निर्वाचित होते हैं। सभा को सार्वजनिक मदों पर बहस करने, तथा कटौती का प्रस्ताव पेश करने का अधिकार है। परन्तु २९ निर्वाचित सदस्यों में से तीन स्थान जागीरदारों के लिए है और निर्वाचन प्रणाली बहुत दूषित है। इस प्रकार सभा सार्वजनिक भावनाएँ यथेष्ट रूप में प्रकट नहीं करती और उसके सदस्यों में से तीन का सरकारी विभागों में अंडर-सेक्रेटरी होना भी विशेष उपयोगी नहीं होता।

सभा के अधिवेशनों में सभापति का पद प्रधान मंत्री ग्रहण करता है। सभा के अधिकतर मेम्बर अयोग्य और जी-हजूर होते हैं। निदान, इसे 'व्यवस्थापक सभा' कहना अशुद्ध है। इसके अनेक प्रस्ताव तो शोक, बधाई या, राजभक्ति के ही होते हैं। इसमें प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता, और इसकी कार्यवाही भी महीनों बाद छपती है।

व्यवस्थापक सभा का आय-व्यय-अनुमान पत्र (बजट) पर कुछ नियन्त्रण नहीं है। बजट प्रतिवर्ष बनता ज़रूर है। पर यह आवश्यक नहीं कि वह समय पर ही बने। उस पर बहस हो सकती है, परन्तु प्रायः मेम्बरों को उसकी आलोचना करने का साहस नहीं होता। बजट पर मत तो लिये ही नहीं जाते। और, यदि कोई मेम्बर उसके विषय में कोई सुझाव उपस्थित भी करे तो उसके सम्बन्ध में अन्तिम-निर्णय का अधिकार तो प्रधान मंत्री अथवा महाराज साहब को ही होता है। महाराजा साहब कितना ही खर्च कर डालें, उन पर कोई नियन्त्रण नहीं है। उन्हें लाखों रुपये की निजी आमदनी होती है, वह बजट में दिखायी ही नहीं जाती।

न्याय—न्याय-पद्धति के लिए राज्य में प्रायः ब्रिटिश भारत की

भद्दी नकल की जाती है। सब से उच्च संस्था यहाँ जुडीशल कमेटी है। इसमें हाईकोर्ट के फैसलों की अपील सुनी जाती है। इस कमेटी में सात सदस्य हैं, जिनमें से कानून का ज्ञान सिर्फ तीन-चार को ही होता है। फिर, इसमें प्रबन्ध विभाग के अधिकारियों की खासी संख्या रहती है। इस दशा में राज्य के न्याय विभाग के स्वतन्त्र और निष्पक्ष होने का दावा सर्वथा निस्सार है। जुडीशल कमेटी के अधीन हाईकोर्ट है, उसके नीचे जिले की अदालतें सेशन कोर्ट और मुन्सिफी आदि है। यहाँ के न्याय करनेवालों पर प्रधान मंत्री और महाराज का प्रभाव नियमानुसार पड़ सकता है। साधारण मामलों में न्याय जल्दी या देर में होना सिफारिश, रिश्वत, या हाकिम की दिलचस्पी आदि पर निर्भर है।

स्थानीय स्वराज्य—सन् १९३७ से राजधानी (बीकानेर नगर) की म्युनिसपेलटी को छोड़कर और सब म्युनिसपेलटियों को सभापति चुनने का अधिकार है। पर अब तक उनके भी सभापति तहसीलदार या नाजिम ही रहे हैं। मई १९४७ से यह घोषित किया गया है कि भावी चुनाव के बाद राजधानी की म्युनिसपेलटी का भी अपना सभापति निर्वाचित करने का अधिकार होगा। राजधानी में एक 'कारपोरेशन' बनाने का विचार है, जिसमें सरकारी नौकर नामज़द नहीं होंगे, और न वे चुनाव में खड़े हो सकेंगे। अन्य म्युनिसपेलटियों में भी अब तहसीलदार या नाजिम सभापति नहीं होंगे। म्युनिसपल बोर्डों को कुछ कर लगाने का अधिकार है, पर वे सरकारी मदद से काम चलाते हैं, इससे वे सीधे सरकार के नियंत्रण में रहते है। बीकानेर राज्य में जिला-बोर्ड बहुत ही कम है।

शिक्षा, स्वास्थ्य आदि—हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, आदि के बड़े सहायक होने के कारण स्व० महाराज शिक्षा-प्रेम के लिए दूर-दूर प्रसिद्ध थे परन्तु बीकानेर राज्य में शिक्षा का प्रचार बहुत कम किया गया।

राज्य की संस्थाओं से, विशेष लाभ राजपूतों का चाहा जाता है। यह तो राज्य में शिक्षा-प्रचार के कई एक प्राइवेट उद्योग चल रहे हैं, अन्यथा, यदि जनता केवल राज्य के भरोसे रहती तो बहुत ही अंधकार होता। राज्य की आय का सिर्फ अट्ठाइसवां हिस्सा शिक्षा पर खर्च होता है। राष्ट्रीय भावनाओ से दूर रखने लिए विद्यार्थियों पर कड़ी निगाह रखी जाती है।

राज्य में स्वास्थ्य, सफाई, सड़कों और पीने के पानी का प्रबन्ध राजधानी को छोड़ बाहर बहुत ही कम है। उद्योग धन्धों की उन्नति न होने से सर्वसाधारण की आजीविका का मुख्य साधन खेती है। किसानों पर नाना प्रकार की लागें तथा अन्य कर लगे हुए हैं। इसके फल-स्वरूप 'हजारों बीकानेरी किसान भूखे व फटे चीथड़ों में, काम की तलाश में हिसार या इधर उधर मारे-मारे फिरते हैं। और ये किसान वे जाट हैं, जिनकी सहायता से बीकानेर राज्य कायम हुआ था, और जिनकी उस सेवा के उपहार में आज तक भी जब कोई महाराजा गद्दी पर बैठता है तो उसके मस्तक में पाँव के अंगूठे से जाट जाति के प्रतिनिधि ही राजतिलक किया करते हैं।' राजपूत प्रायः करों से मुक्त रहते हैं।

इस राज्य का लोक हितकारी कार्य विशेषतया गंग नहर निकालना है।* वास्तव में इस नहर की योजना पंजाब सरकार ने की थी; सरकार की इच्छानुसार ही बीकानेर महाराज श्री० गंगासिंह जी ने इसमें भाग लिया था। इन्होंने जमीन बेचकर खूब धन प्राप्त किया और यश भी। इस इलाके की जनता को लगान, आबपाशी, अधिकारियों की दुर्व्यहार आदि की बहुत शिकायतें रही हैं।

*यह नहर सन् १९२७ में सतलज नदी से निकाली गयी। यह लगभग ८५ मील लम्बी है। इसमें करीब तीन करोड़ रुपए लगे हैं। इसके पानी से कोई छः लाख एकड़ ज़मीन में खेती की जाती है।

सारहीन घोषणाएँ—महाराजा सादूलसिंह जी अपने स्व० पिता की तरह भाषण देने और घोषणाएँ करने में बहुत कुशल हैं। जनवरी १९४६ में आपने नरेन्द्रमंडल की शासन-सुधार सम्बन्धी घोषणा का 'हृदय से' समर्थन किया था, जिसमें यह माना गया है कि हर व्यक्ति को आजादी के साथ अपनी राय जाहिर करने का हक होगा। और, इन्हीं महाराज ने उसके दो माह बाद राज्य में एक प्रेस एक्ट जारी किया, जिसमें समाचारपत्रों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। कथनी और करनी में कितना अन्तर है!

जागीरदारों का अत्याचार—बीकानेर का दो-तिहाई भाग पट्टा, जागीर या ठिकानों का है। जागीरदारों को कानून से तो दीवानी या फौजदारी अधिकार नहीं है, तथापि अदालतों में, उनका काफी प्रभाव है। जनता के साथ उनका व्यवहार अमानुषिक है। मिसाल के तौर पर एक जागीरदार ने एक स्त्री का नाक काटडाला था। वह अदालत से छूट गया था, पीछे विशेष कारण से उसे सजा हो गयी। दूसरे जागीरदार ने सुथार (बढ़ई) औरतों को तथा उनके मवेशियों को मालगुजारी वसूल न होने के कारण अपने गढ़ में बन्द कर लिया, और यह भी उस समय जब कि अनावृष्टि के कारण फसल नहीं हुई थी।

उत्तरदाई शासन-योजना की दुर्गति—अगस्त १९४६ में महाराज ने एक विज्ञप्ति निकाली कि चार साल के अर्से में बीकानेर में पूर्ण उत्तरदाई सरकार स्थापित कर दी जायगी। इस कार्य के लिए दो समितियाँ (विधान समिति और मताधिकार निर्वाचन-क्षेत्र समिति) कायम की गयीं। महाराज के द्वारा उत्तरदाई शासन के लिए चार साल के समय की मियाद डाले जाने से उसका महत्व बहुत कुछ नष्ट हो गया। फिर, बीकानेर सरकार ने उपर्युक्त समितियों के लिए अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद से सम्बद्ध, जनता की एकमात्र राजनीतिक संस्था बीकानेर राज्य-प्रजा परिषद को राज्य का प्रतिनिधित्व करने

वाली न मान कर प्रजा सेवक-संघ के नाम की बनावटी संस्था को मान दिया। खबर है कि भावी विधान के अनुसार राज्य में दो सभाएँ होंगी। जागीरदारों के लिए दोनों सभाओं में काफी स्थान रहेंगे। नीचे की सभा में दस सदस्य महाराजा द्वारा नामज़द किये जायगे। चार मंत्री अन्तर्कालीन तीन साल के लिए चुने हुए मेम्बरों में से होंगे, पर उन्हें बहुत कम महत्व के ही कार्य सौंपे जायंगे। और, पूर्ण शासन-सत्ता एवं प्रभुत्व शक्ति जनता में निहित न रह कर महाराजा में रहेगी। हमें ऐसी योजना बनानेवालों की बुद्धि पर तरस आता है; वे १९४७ में रहते हैं, या १८४७ में!

जोधपुर

साधारण परिचय—जोधपुर (या मारवाड़) राजपूताना में सब से बड़ा देशी राज्य है। इसका क्षेत्रफल ३६,०२१ वर्ग मील, जनसंख्या (सन् १९४१) २५, ५५, ९०४ और सालाना आमदनी ढाई करोड़ रुपये है। इस राज्य में केवल ७,०२१ वर्गमील ही खालसा ज़मीन है, शेष २९,००० वर्गमील जागीरदारों के अधीन है, इसी प्रकार ९०२ गाँव खालसा है और ३,४४४ गाँव जागीरी हैं। यहाँ के शासक राठौर राजपूत हैं।

शासन—शासन-कार्य स्टेट कौंसिल द्वारा होता है। इसमें महाराजा साहब के अतिरिक्त कुछ मंत्री होते हैं, जिन्हें महाराज द्वारा निर्धारित कार्य सौंपा हुआ रहता है। इस समय मंत्री ये हैं—(१) प्राइम मिनिस्टर—विदेश और राजनीति, रेल, पुलिस, राजस्व, हुकूमत, जागीरी समस्याएँ आदि। (२) महाराज का कौंसिलर या सलाहकार—गृह-विभाग। (३) न्याय मंत्री या जूडीशल मिनिस्टर। (४) मेम्बर-आफ-दि-कौंसिल-आफ-मिनिस्टर्स—आबकारी, नमक, जंगल, खेती। इनके अलावा सरदारों की कमेटी रहती है, जो जागीर सम्बन्धी मामलों में सलाह देती है।

राज्य में सब हुक्म तथा कानून महकमाखास से जारी होते हैं। इसका खास काम नीचे के महकमों या विभागों (जो विविध मन्त्रियों के जिम्मे होते हैं) तथा अदालतों की निगरानी, हिदायतें करना और उनको अमल में लाने की व्यवस्था करना है। इसके हिन्दी तथा अंगरेजी के दफ़रों का कार्य विभिन्न विभागों के सेक्रेटरी या सुपरिंटेंडेन्ट करते हैं। राजप्रबन्ध के लिए राज्य २२ परगनों में विभक्त हैं। परगने का अफसर हाकिम कहलाता है, उसका काम दीवानी वा फौजदारी इन्साफ करना, मालगुजारी वसूल करना, इमारती पट्टे देना, रजिस्टरी करना, लावारसी जायदाद की कार्यवाही करना और परगने का आम बन्दोबस्त व जमा-खर्च करना है।* अधिकांश परगनों में हाकिम का सहायक 'नायब हाकिम' भी होता है।

व्यवस्थापक सभा—सन् १६३६-४० में, यहाँ सुधारों के रूप में एक केन्द्रीय सलाहकार-बोर्ड और २२ परगना-सलाहकार बोर्ड थे। इनका चुनाव राज्य ने किया था, तथापि उसने इनकी सलाह की कुछ विशेष कद्र न की। अस्तु, व्यवहार में शासन एकतन्त्री ही रहा।

२८ मई १९४१ को सुधारों की घोषणा की गयी। इसके अनुसार ६४ सदस्यों की प्रतिनिधि सलाहकार सभा ('रेप्रेजन्टेटिव एडवाइजरी असेम्बली') संगठि की गयी। असेम्बली में नामजद सदस्यों की संख्या इतनी अधिक (२३) थी कि यदि उनके साथ विशेष क्षेत्रों से निर्वाचित आठ सदस्य मिल जायँ, तो सार्वजनिक क्षेत्रों से निर्वाचित सदस्यों की अधिकता नाममात्र को रह जाय। निर्वाचन सम्बन्धी व्यवस्था भी ठीक नहीं थी। मारवाड़-लोकपरिषद की कार्यकारिणी ने इस सभा के संगठन के विषय में विविध संशोधनों की आवश्यकता बतायी, पर जोधपुर सरकार ने उन्हें स्वीकार न किया। इस

* इससे स्पष्ट है कि शासन और न्याय काय पृथक्-पृथक नहीं हैं।

पर परिषद ने सभा का बहिष्कार कर दिया; इससे प्रायः सभी स्थानों से जागीरदार आदि प्रतिगामी दलों के आदमी चुने गये।

सन् १६४३ में जोधपुर सरकार ने बड़ौदा हाईकोर्ट के चीफ जज श्री० सुथालकर को कुछ समय के लिए वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में सलाहकार नियुक्त किया था। महाराजा साहब ने उनकी सिफारशों को कुछ फेरफार के साथ स्वीकार किया।

इस योजना के अनुसार राज्य में एक धारा सभा कायम की जायगी, जिसमें कुल ६६ सदस्य रहेंगे। इनमें से ३७ प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से और १५ विशेष हितों द्वारा चुने जायेंगे, एवं आठ सरकारी और नौ नामजद सदस्य होंगे। इस धारा सभा को कुछ सीमाओं के भीतर कानून बनाने, सार्वजनिक हित के मामलों पर चर्चा करने, बजट पर चर्चा करने और उसे स्वीकार करने, प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछने तथा शासन सम्बन्धी महत्वपूर्ण मामलों पर सरकार को सलाह देने के लिए विशेष कमेटियां नियुक्त करने का अधिकार होगा।

इस योजना में धारा सभा एक ही है और पृथक् निर्वाचन प्रणाली नहीं रखी गयी है। मुसलिम जनता के लिए पाँच मुसलमान न चुने जा सकें तो राज्य नामजद करके उनकी संख्या पूरी कर देगा। परन्तु सभा के संगठन में आठ मिनिस्टरों के अलावा ६ नामजद सदस्यों का होना खटकता है, उनके साथ जागीरदारों और भू-स्वामियों आदि विशेष वर्गों के प्रतिनिधियों को जोड़ दिया जाय तो जनसाधारण के प्रतिनिधियों का बहुमत बहुत कम रह जाता है। मताधिकार भी बहुत सीमित है; फिर दो वर्ष या अधिक समय की सजा पाये हुए राजनीतिक कार्यकर्ता चुनाव में खड़े नहीं हो सकते।

इस विधान के अनुसार महाराजा साहब की निरंकुश सत्ता में किसी तरह की आँच नहीं आयगी; आधे मंत्री भी ऐसे नहीं होंगे,

जिन्हें धारा सभा का विश्वास प्राप्त हो।

धारा सभा को अपना सभापति स्वयं चुनने का अधिकार नहीं दिया गया। राज्य के प्रधानमंत्री ही उसके सभापति होंगे। यही नहीं, उपसभापति की नियुक्ति भी महाराजा साहब ही करेंगे। प्रधान मन्त्री को यह अधिकार होगा कि वह धारा सभा में किसी बिल के संशोधन या प्रस्ताव पर होनेवाली चर्चा को बीच में ही बन्द कर दे। वह किसी भी बिल को महाराजा साहब की स्वीकृति के लिए पेश करने के पहले पुनर्विचार के वास्ते असेम्बली को लौटा सकेगा। उसे असेम्बली द्वारा अस्वीकृत किसी भी बिल को अपने विशेषाधिकार द्वारा मंजूर करने का भी अधिकार होगा।

बजट का बहुत सारा भाग धारा सभा के अधिकार-क्षेत्र से बाहर होगा, जिसमें मंत्रियों के वेतन भी शामिल होंगे। अर्थ सम्बन्धी प्रस्तावों पर बिना पूर्व अनुमति प्राप्त किये, धारा सभा में चर्चा न हो सकेगी। अतिरिक्त बजट पर धारा सभा की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक न होगा। अन्य विषयों के साथ-साथ जागीरदारों सम्बन्धी विषय भी असेम्बली के अधिकार-क्षेत्र से बाहर होंगे।

धारा सभा के अधिकारों पर यह सब अंकुश काफी व्यापक हैं, और प्रस्तावित सुधार-योजना में शासन को धारा सभा के प्रति उत्तरदाई नहीं बनाया है। लोक-परिषद ने इसे अस्वीकार कर दिया है।

खबर है कि शासन यन्त्र में शीघ्र ही महत्वपूर्ण परिवर्तन होनेवाला है, अभी हाल तीन गैर-सरकारी मंत्री नियुक्त किये जायंगे।

न्याय—न्याय की सर्वोपरि अदालत इजलासखास है। इसमें महाराजा साहब तथा कौंसिल के मंत्री होते हैं। यह हाईकोर्ट * की अपील सुनती है। किसी मिनिस्टर के हुक्म की अपील तथा निगरानी भी इसी में होती है। इसे मारवाड़ राज्य की 'प्रिवी कौंसिल, कहा जाता है।

*हाईकोर्ट की स्थापना अप्रेल १९४७ में हुई है पहले यहाँ चीफ कोर्ट था।

इसके नीचे हाईकोर्ट है, जिसका कार्य नीचे की अदालतों की अपील सुनना है। राज्य में चार सेशनकोर्ट और पाँच जुडीशल सुपरिंटेन्डेन्टों की अदालतें हैं। परगनों (जिलों) में न्याय-विभाग शासन विभाग से अलग है। हाकिम तथा नायब हाकिमों को दीवानी और फौजदारी के निर्धारित अधिकार हैं। बड़े ठिकानों में जागीरदारों को प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी के न्याय सम्बन्धी अधिकार हैं।† राज्य में अनेक मुकदमों का बड़ी मुद्दत तक फैसला नहीं हो पाता, इससे लोगों को बड़ी परेशानी और धन-हानि होती है। पंचायतों के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है।

स्थानीय स्वराज्य—इस राज्य में म्युनिसपेलटियाँ आदि स्वराज्य-संस्थाएँ बहुत कम रही हैं। जोधपुर शहर को छोड़कर खालसा में कुल मिला कर सात म्युनिसपल बोर्ड हैं, जो विविध उपजातियों के या सरकारी सदस्यों के बने हुए हैं। जागीरी क्षेत्र में केवल दो म्युनिसपेलटियाँ हैं, वे भी नाममात्र की। जोधपुर शहर के म्युनिसपल बोर्ड की स्थापना राष्ट्रीय कॉंग्रेस के करीब-करीब साथ ही हुई थी, परन्तु इसका प्रथम हलकेवार चुनाव सन् १९४१ में हुआ था, उसमें स्थानीय लोक-परिषद् का प्रचंड बहुमत रहा था। लोकपरिषद् पार्टी का अधिकारियों से प्रायः संघर्ष हो रहा है। सन १९४७ में बोर्ड ने कई माह काम नहीं किया, सब अधिकार सेक्रेटरी को रहे।

शिक्षा—राज्य शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ है। सन १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार यहाँ एक हजार में केवल ४६ व्यक्ति पढ़े-लिखे हैं। जोधपुर नगर में अवश्य कई संस्थाएँ हैं, एक कालिज और दरबार हाई स्कूल के अतिरिक्त कई जातियों के अपने-अपने हाईस्कूल हैं; कन्याओं की शिक्षा की भी व्यवस्था है। परन्तु परगनों और देहातों में शिक्षा का प्रबन्ध बहुत ही कम है। जागीरी इलाकों में तो लोगों की

---

†जागीरदार अपने अधिकारों का बहुत दुरुपयोग करते हैं, इसलिए बहुत सों के अधिकार छीने या घटाये भी गये हैं।

निजी पाठशालाएँ अधिकारियों द्वारा बन्द किये जाने का भी कटु अनुभव होता है। इसका कारण नहीं बताया जाता; अनेक दशाओं में लिखित सूचना भी नहीं दी जाती।

नागरिक अधिकार—नागरिक अधिकारों की अवहेलना करने में यह राज्य बहुत आगे रहा है। यह साइक्लोस्टाइल और टाइपराइटर एक्ट आदि प्रेस के संहारक कानूनों का अपयश लेने वाला रहा है। सन् १६३२ का आर्डिनेन्स, राजविद्रोह-कानून इत्यादि अपने ढङ्ग के अनोखे कानून थे, जिनसे राजनीतिक संस्थाओं का दम चाहे जब घोटा जा सकता था। हाल में कुछ सुधार हुए हैं, पर व्यवहारिक दृष्टि से जनता को उनसे विशेष लाभ नहीं पहुँचा। सन १६४७ से सार्वजनिक सुरक्षा कानून बना हुआ है, यह राज्य के किसी हिस्से में लागू हो सकता है। इसके अनुसार, सन्दिग्ध व्यक्तियों को गिरफ़ार किया जा सकता है।

जागीरदार अपने हलकों में जनता का भरसक शोषण करते हैं, वे गैर-कानूनी ठहराई हुई बेगार और लागें कस कर लेते हैं और कोई इनकी ज्यादतियों को जबानी या कार्यरूप में जरा भी विरोध करता है, उसे बुरी तरह सताते हैं।

मेवाड़

साधारण परिचय—मेवाड़ राजपूताने का अत्यन्त प्रतिष्ठित राज्य है। इसे इसकी राजधानी के नाम पर उदयपुर राज्य भी कहा जाता है। इसका क्षेत्रफल १२,६६१ वर्गमील, जनसंख्या (सन् १६४१ की गणना के अनुसार) १६,२६१२८ है। सन् १६३८ में अजमेर-मेरवाड़ा का एक हिस्सा, वहाँ के रहने वालों के विरोध करने पर भी, ब्रिटिश सरकार ने इस राज्य को सौंप दिया; इस हिस्से का क्षेत्रफल ३५० वर्गमील और जनसंख्या लगभग ४६ हजार है। मेवाड़ राज्य (खालसा) की वार्षिक आय लगभग सवा करोड़ रुपये है। राज्य का एक-तिहाई

भाग जागीर और माफी है।

शासन—यहाँ शासन-व्यस्था एकतंत्रीय रही है। महाराणा भूपालसिंह जी के गद्दी पर बैठने के समय (सन् १६३०) मुसाहबआला (प्रधान परामर्शदाता) की नियुक्ति की गयी, और भिन्न-भिन्न विभागों का नियमानुसार सगठन किया गया। सन् १६४० ई० में इस पद्धति का अधिक विकास हुआ; मुसाहबआला के स्थान पर प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया और उसकी अधीनता में चार मत्रियों की समिति बनायी गयी, जो अपने-अपने कार्य के लिए उत्तरदाई बना दिये गये। मंत्रियों के विभाग ये थे :—(१) शिक्षा, स्वास्थ्य आदि (२) माल, (३) राजस्व और (४) गृह। प्रधान मंत्री और दूसरे सब मंत्री महाराणा साहब द्वारा नियुक्त होते थे, और उनके ही प्रति उत्तरदाई होते थे, जनता के प्रति नहीं।

२३ मई १६४७ की घोषणा के अनुसार तीन लोकप्रिय मंत्रियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। धारा सभा के चुनाव होने तक अन्तरिम काल के लिए इनमें से दो मंत्री प्रजामंडल के नेता होंगे और एक राजपूत सभा का। ये तीन अतिरिक्त मंत्री होंगे। महाराणा का खर्च नियमित कर दिया गया है। ये राज्य की आय दस प्रतिशत अपने लिए खर्च कर सकेंगे। राज्य संस्था के गौरव को कायम रखने के लिए अन्य आवश्यक खर्च का निर्णय एक अर्द्ध कानूनी अदालत द्वारा होगा।

व्यवस्थापक सभा—मार्च १६४७ के शासन सुधार बहुत असन्तोषप्रद होने के कारण, प्रजा मंडल द्वारा ठुकरा दिये गये थे। इसके बाद श्री० कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी (जो इस समय राज्य के वैधानिक सलाहकार थे) के बनाये हुए मसविदे के आधार पर २३ मई १६४७ की सुधारों की घोषणा की गयी। उसके अनुसार व्यवस्थापक सभा के ६१ सदस्यों से से ३१ बालिग मताधिकार द्वारा निर्वाचित होंगे। ग्रामीण इलाकों में संयुक्त निर्वाचन प्रणाली जारी रहेगी। मील और दूसरी

पिछड़ी हुई जातियों को उनकी संख्या के आधार पर स्थान दिये गये। हैं। तीन स्थान मुसलमानों के लिए और दो स्थान मजदूरों के लिए सुरक्षित हैं। दस सदस्य जागीरदारों द्वारा निर्वाचित होंगे, और पांच शिक्षित वर्ग द्वारा। पांच सदस्यों (जिनमें एक मुसलमान होगा) का चुनाव उद्योग धंधों और व्यापारिक हित वाले करेंगे। पांच सदस्य नामजद होंगे—अध्यक्ष, तीन मंत्री, तथा प्रधान मंत्री।

पाच वर्ष समाप्त होने पर प्रधान मंत्री के सिवा सब सदस्य निर्वाचित होंगे, और, व्यवस्थापक सभा को यह भी अधिकार होगा कि वह चाहे तो प्रधान मंत्री को बर्खास्त करदें।

व्यवस्थापक सभा के लिए बालिग मताधिकार, संयुक्त निर्वाचन, निर्वाचित सदस्यों का यथेष्ट बहुमत और तीन लोकप्रिय मंत्रियों का होना तो ठीक है, तथापि इस युग के लिए ये सुधार अपर्याप्त है, सत्ता का श्रोत जनता के बजाय शासक को माना गया है, कार्यकारिणी को व्यवस्थापक सभाके प्रति जिम्मेवार नहीं बनाया गया। अस्तु, प्रजा मंडल को इन सुधारों से असन्तोष रहा।

मालूम हुआ है कि श्री० मुन्शी द्वारा बनाये गये विधान को महाराणा ने अस्वीकार कर दिया है। अब डाक्टर एम० एस० मेहता नया विधान रियासती नेताओ की सलाह से तैयार कर रहे हैं।

न्याय—राज्य में सर्वोच्च न्याय-संस्था हाईकोर्ट है, इसमें चीफ-जस्टिस के अतिरिक्त तीन अन्य जज है। इसके 'आरिजिनल' भाग में दीवानी के बहुत बड़े-बड़े मुकदमे होते हैं। अपील भाग में सेशन-कोर्टों के, और अव्वल दर्जे के ठिकानों के, मुकदमों की अपील होती है। राज्य में सेशन-कोर्ट दो जगह हैं—उदयपुर नगर में और भीलवाड़ा में। न्यायाधीशों को न्याय करने की यथेष्ट स्वतंत्रता नहीं है, अनेक बार उन पर अधिकारियों का अनुचित दबाव पड़ता है। फिर, यद्यपि न्याय-कार्य में शासन का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं है, यहाँ न्याय

में सब का समान अधिकार भी नहीं है; सामन्तों को विशेष संरक्षण प्राप्त हैं।

स्थानीय स्वराज्य—सन् १६३६ ई० तक राज्य भर में, केवल उदयपुर नगर में ही म्युनिसपेलटी थी; उसमें भी सदस्य राज्य द्वारा नामजद होते थे। मेवाड़ प्रजामडल की स्थापना के बाद, उसके माँग करने पर राज्य ने म्युनिसपेलटी में निर्वाचित सदस्य रखने का निश्चय किया। सन् १६४० में म्युनिसपल विधान लागू किया गया, जिसके अनुसार म्युनिसपेलटी में १२ सदस्य चुने हुए, और ८ नामजद होने की व्यवस्था की गयी। म्युनिमपेलटी के अधिकार और क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किये गये। उसके निर्णय महकमा खास के विचारार्थ भेज दिये जाते हैं। पहले चुनाव के समय प्रजामंडल गैर-कानूनी था, दूसरे चुनाव के समय उसके नाम से सदस्यों का खड़ा होना सरकार ने स्वीकार न किया। नतीजा यह हुआ कि म्युनिसपेलटी प्रायः नामज़द सदस्यों की ही रही। अध्यक्ष तो सरकार द्वारा नामज़द होता ही है।

राज्य में, उदयपुर नगर को छोड़ कर अन्य स्थानों में जो म्युनिसपेलटियों है, वे उदयपुर म्युनिसपेलटी के अधीन हैं। उनके सदस्य सरकार द्वारा नामजद हैं। राज्य में पंचायतें भी बहुत कम हैं, उनका कार्य प्राम्भिक अवस्था में है।

जागीरी इलाकों की कुव्यवस्था—मेवाड़ राज्य का लगभग एक-तिहाई हिस्सा जागीरों का है। इनमें रहनेवाली जनता की समस्याएँ जुदा-जुदा हैं। प्रथम श्रेणी के जागीरदारों के ठिकानों में तो जनता के कष्ट अपरिमित ही हैं, वैसे प्रायः सभी जागीरदारों की निरंकुशता बहुत बढ़ी हुई है।

महाराणा प्रताप विश्वविद्यालय—नये शासन-सुधारों की घोषणा के साथ यहां महाराणा प्रताप विश्वविद्यालय का उद्घाटन किया गया है, जिसमें शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगा। इस संस्था के लिए महा-

राणा और मेवाड़ सरकार ने जायदाद और आर्थिक सहायता की व्यवस्था की है। एक विश्वविद्यालय-कर भी लगाया जायगा। मेवाड़ राज्य की सरकारी भाषा हिन्दी होगी, जो देवनागरी लिपि में लिखी जायगी। महाराणा साहब और श्री० मुन्शी को मेवाड़ में शिक्षा-प्रचार की दिशा में यह कदम बढ़ाने के लिए बधाई! आवश्यकता है कि राज्य में उत्तरदाई सरकार स्थापित हो, और उसके द्वारा ही इस विश्वविद्यालय का भी संचालन हो।

जयपुर

यह राज्य अपने विस्तार की दृष्टि से राजपूताना भर में चौथा और आमदनी के विचार से पहला है। इसका क्षेत्रफल १६,६८२ वर्गमील, जनसंख्या (१९४१ की गणना के अनुसार) ३०,४०,८७६ और वार्षिक आय ढाई करोड़ रुपए से अधिक है। राज्य का अधिकांश अर्थात् लगभग दो-तिहाई भाग जागीरी क्षेत्र का है। महाराजा जयपुर कछवाहा राजपूत है।

शासन—महाराजा साहब मंत्रियों की कौंसिल (कौंसिल-आफ-मिनिस्टर्स) की सहायता से शासन-कार्य चलाते हैं, जिसे टैक्स लगाने और राज्य की आय को खर्च करने का अधिकार है। मन्त्रियों में प्रधान मंत्री के अलावा चार मंत्री और होते हैं—अर्थमंत्री, मालमंत्री, गृहमंत्री और शिक्षा मंत्री। इनमें से तीन मंत्री गैर-सरकारी हैं और उनमें से दो प्रजामण्डल के हैं। मन्त्रियों को सहायता के लिए सेक्रेटरी हैं, जिन में से एक चीफ-सेक्रेटरी कहलाता है। प्रत्येक मन्त्री को कुछ-कुछ शासन-विभाग सौंपे हुए हैं। कौंसिल का प्रेसीडेन्ट प्रधान मंत्री ही होता है। मंत्रियों की नियुक्ति और अलहदगी महाराजा साहब द्वारा होती है।

व्यवस्थापक सभा—व्यवस्थापक सभा में अध्यक्ष (प्रधान मंत्री) सहित ५१ सदस्य हैं—१४ नामजद और ३७ निर्वाचित। नामजद सदस्यों में १० सरकारी पदाधिकारी और ४ गैर-सरकारी हैं। निर्वाचित

सदस्यों का व्योरा इस प्रकार है—सरदारों के प्रतिनिधि ६, मज़दूरों का १, महिलाओं का १, व्यापारियों का १, साधारण निर्वाचक-संत्रों के २१, जनरल, और मुसलमानों के लिए सुरक्षित ४। साधारण निर्वाचक-क्षेत्रों के २१ प्रतिनिधियों का चुनाव संयुक्त निर्वाचन पद्धति से होता है। सरदार वर्ग के लिए लगभग सात सौ आदमियों के लिए ६ प्रतिनिधियों का रहना असंतोषजनक है। व्यवस्थापक सभा के अधिकार काफी सीमित हैं; राजपरिवार, फौज, दूसरी रियासतों से सम्बन्ध आदि विषय इसके विचार-क्षेत्र के बाहर है। बजट पर इसमें सिर्फ बहस हो सकती है, और कटौती आदि के प्रस्ताव लिये जाते हैं, पर इस सभा के मतानुसार उसमें परिवर्तन नहीं किया जाता।

व्यवस्थापक सभा के साथ एक प्रतिनिधि-सभा है; इसे कानून बनाने आदि का अधिकार नहीं है। यह एक तरह की वादविवाद सभा है, जिसके सदस्य जनता के अभाव अभियोग सम्बन्धी प्रश्न तथा पूरक प्रश्न निर्धारित संख्या में, पूछ सकते हैं। ये कोई प्रस्ताव नहीं कर सकते। इसमें १२५ सदस्य हैं—५ नामजद और १२० निर्वाचित। निर्वाचित सदस्य इस प्रकार बँटे हुए हैं—जागीरदार २५, मज़दूर २, महिला २, व्यापारी २, साधारण निर्वाचन क्षेत्र से ७८ जनरल, और मुसलमान ११ सुरक्षित।

मताधिकार संकुचित होने, व्यवस्थापक सभा के अधिकारों के मर्यादित होने तथा मंत्रिमंडल के व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई न होने के कारण इन शासन-सुधारों से जनता को संतोष नहीं है।

मालगुजारी और न्याय—मालगुजारी की वसूली के लिए राज्य की चार कमिश्नरियाँ हैं, जो एक-एक डिप्टी कमिश्नर के अधीन हैं। इनके अंतर्गत ११ निजामतें हैं, जिनमें ३० तहसीलें हैं; इनके अधिकारी क्रमशः नाजिम और तहसीलदार हैं। इनके सहायक नायब नाजिम और नायब तहसीलदार हैं।

नाजिम निजामत, माल-अफसर होने के अलावा मजिस्ट्रेट भी हैं। दीवानी मामलों के फैसले मुंसिफ करते हैं। कहीं कहीं सब-जज और एसिस्टेण्ट सेशन जज भी हैं। अपील के लिए अपील-कोर्ट है। रियासत की सबसे ऊँची अदालत हाईकोर्ट है, जिसमें एक चीफ-जस्टिस और तीन जज हैं। मुकदमों का फैसला होने में देर तो बहुत लगती ही है; न्याय मँहगा भी बहुत पड़ता है। बहुत से मामलों में पुलिस का गुप्त रूप से अनुचित हस्तक्षेप होता है।

म्युनिसपेलटियाँ और पंचायतें—कुछ समय से स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के विषय में अच्छी प्रगति हुई है। जयपुर शहर म्युनिसपल कौंसिल के ३६ सदस्यों में ६ नामजद और ३० निर्वाचित हैं। नवम्बर १६४६ से म्यूनिसपेलटी का आय-व्यय कौंसिल के हाथ में आ गया है। पाँच हजार या इससे अधिक आबादी वाले कस्बों में म्युनिसपल कमेटियाँ कायम हो गयी हैं। उनमें से कुछ में अध्यक्ष चुने हुए हैं, और सदस्य निर्वाचित तथा नामजद दोनों प्रकार के हैं। छोटे कस्बों में पंचायतें कायम हुई हैं।

शिक्षा आदि—शिक्षा आदि के लिए जयपुर शहर में मिडल और हाई स्कूलों के अलावा एक एम० ए० तक का डिग्री कालिज, चार दूसरे कालिज, और एक शिल्प और कला का स्कूल है। राजधानी के बाहर प्रमुख निजामतों में भी राजकीय हाई स्कूल हैं। गत वर्षों में शिक्षा में उन्नति और प्रचार तो अवश्य हुआ है, परन्तु जबकि पहले यहाँ शिक्षा निश्शुल्क थी, अब अंगरेजी स्कूलों तथा कालिजों में विद्यार्थियों को फीस देनी पड़ती है।

चरखा सङ्घ, हरिजन सेवक सङ्घ, राजपूताना शिक्षा मण्डल, मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी, बिड़ला ऐजूकेशन ट्रस्ट वनस्थली बालिका विद्यालय आदि संस्थाएँ शिक्षा आदि विविध रचनात्मक प्रवृत्तियों को सुन्दर ढंग से विकसित कर रही हैं, और जन-हितकारी कार्य में लगी

हुई हैं। राजपूताना यूनिवर्सिटी के बारे में पहले लिखा जा चुका है, उसका प्रधान कार्यालय जयपुर में रहेगा। पिलानी में बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के अन्तर्गत इञ्जिनियरिंग कालिज चल रहा है।

स्वास्थ्य और चिकित्सा के सम्बन्ध में अब कुछ ध्यान दिया जाने लगा है।

जयपुर में लगान आदि के सम्बन्ध में जनता को बहुत सी शिकायतें रही हैं। बेगार यहाँ जाब्ते से तो बन्द है, परन्तु देहातों और जागीरी इलाकों में इनका काफी जोर है।

जागीरदारी—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, जयपुर में दो-तिहाई रियासत जागीरदारों के अधिकार में है। जागीरदार प्रायः प्रजा की शिक्षा, स्वास्थ्य, दुर्भिक्ष-निवारण आदि बातों पर ध्यान नहीं देते। इसके अतिरिक्त यदि राज्य की ओर से किसी विषय में सुधार करने की भावना से कोई कमेटी आदि नियुक्त की जाती है, तो उसमें बाधा डालने में इनका खास भाग रहता है, और ये राज्य की प्रगति को रोकते हैं। सीकर, खेतड़ी और उणियारा ठिकानों को दीवानी तथा फौजदारी के अधिकार प्राप्त हैं, बाकी ठिकानों के मामले निजामतों में जाते हैं। लेकिन छोटे ठिकानों में भी कई एक जनता को गैर-कानूनी तरीके से दबाते रहते हैं।

विशेष वक्तव्य—तुलनात्मक दृष्टि से जयपुर की राजनीतिक स्थिति खासी अच्छी है। उत्तरदाई सरकार के उद्देश्य को लेकर विधान बनाने के लिए एक समिति काम कर रही है। प्रजामंडल बहुत प्रगतिशील है, वह उत्साहपूर्वक कार्य कर रहा है, तथा राजपूताने भर के प्रजामंडलों में अपना विशेष स्थान रखता है।

शाहपुरा

राजपूताने का यह छोटा-सा राज्य अजमेर-मेरवाड़ा के दक्षिण में है। इसका क्षेत्रफल ४०५ वर्गमील, जनसंख्या (सन् १९४१) ६१,१७१

और औसत वार्षिक आय लगभग छः लाख रुपए है। शासक राणा-प्रताप का वंशज है, और राजाधिराज कहलाता है। हाल में इस छोटी-सी रियासत के शासक श्री० सुदर्शन देव जी ने शासन-सुधारों की दृष्टि से ऐसा कदम उठाया है कि इसे 'राजपूताने का औंध' कहा जा सकता है।

उत्तरदाई शासन—जनवरी १९४६ में यहाँ प्रजामंडल का पहला अधिवेशन हुआ था, जिसके अध्यक्ष श्री० गोकुललाल असावा थे। कुछ समय बाद राज्य की ओर से श्री० असावा जी की अध्यक्षता में एक विधान-समिति बनायी गयी, जिसे इस राज्य के लिए नया विधान तैयार करने का काम सौंपा गया। इस समिति ने सर्वसम्मति से यह सिफारिश की कि राज्य में पूर्ण उत्तरदाई शासन कायम किया जाय।

समिति ने विधान का जो मसविदा उपस्थित किया, उसमें बालिग मताधिकार, प्रयत्त्व चुनाव, आधारभूत (बुनियादी) अधिकार, शक्ति प्राप्त व्यवस्थापक सभा और जिम्मेदार मंत्रिमंडल की व्यवस्था की गयी। न्याय-विभाग को शासन-विभाग से पृथक् रखा गया।

विधान की कुछ ब्योरेवार बातें—प्रस्तावित विधान की कुछ ब्योरेवार बातें इस प्रकार थीं—

राजाधिराज राज्य के वैधानिक अध्यक्ष होंगे, और उनकी सारी सत्ता राज्य-कौंसिल, व्यवस्थापक सभा तथा हाईकोर्ट द्वारा प्रयुक्त होगी। उनकी प्रत्येक आज्ञा पर किसी मंत्री का हस्ताक्षर होना आवश्यक होगा।

मंत्रिमंडल में प्रधान मंत्री तथा दो अन्य मन्त्री होंगे, जो व्यवस्थापक सभा में बहुमत दल के होंगे और सभा के प्रति उत्तरदाई होंगे।

व्यवस्थापक सभा में २९ सदस्य होंगे, जो सब निर्वाचित होंगे। किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में उसके दो विशेषज्ञ एक अधिवेशन तक के लिए नामजद किये जा सकेंगे। व्यवस्थापक सभा का कार्यकाल

चार वर्ष का होगा।

निर्वाचन बालिग मताधिकार और संयुक्त निर्वाचन-पद्धति के आधार पर होगा। १८ वर्ष का प्रत्येक व्यक्ति, जो राज्य में दस वर्ष तक रह चुका हो, नागरिक और मताधिकारी माना जायगा। मुसलमानों के लिए शाहपुरा नगर में एक स्थान सुरक्षित रहेगा। जागीरदारों, स्त्रियों व ग्रजुएटों को एक-एक विशेष स्थान दिया जायगा। साधारण मत-क्षेत्रों में ११ देहाती और ७ शहरी क्षेत्र होंगे।

राजाधिराज बजट पर स्वीकृति रोक न सकेंगे। सारी कार्यवाही हिन्दी भाषा में होगी।

नागरिकों को विविध विषयों के बुनियादी अधिकार होंगे। उन्हें यह भी हक होगा कि वे उन सुविधाओं और साधनों की स्थिति प्राप्त करें जो मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण तथा सम्पन्न विकास के लिए आवश्यक हैं। इस स्थिति में आर्थिक ढांचे का इस प्रकार का संगठन करना, जो न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित हो और मानव प्राणियों के योग्य जीवन की गारंटी कर सके, विशेष रूप से सम्मिलित होगा।

विधान में परिवर्तन व्यवस्थापक सभा के दो-तिहाई बहुमत से हो सकेगा। राज्य में एक हाईकोर्ट संगठित होगा, जिसको विधान की अन्तिम व्याख्या करने का अधिकार होगा।

राजाधिराज की स्वीकृति—ता० १४ अगस्त सन् १९४७ को शाहपुर दरबार ने उत्तरदाई शासन के इस प्रस्तावित विधान को कुछ साधारण परिवर्तन करके स्वीकार किया और इसे राज्य में लागू करने और उसके अनुसार शासन-कार्य जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को देकर स्वयं केवल वैधानिक शासक की स्थिति में रहने की घोषणा की।

विशेष वक्तव्य—प्रजामंडल के प्रधान श्री० असावा जी राज्य के

प्रथम लोकप्रिय प्रधान मंत्री होंगे। यह ठीक है कि शाहपुरा एक इतनी छोटी रियासत है कि आधुनिक युग की आवश्यकताओं को देखते हुए भारतीय सङ्घ में उसके एक अलग इकाई के रूप में रहने में सन्देह ही है, तथापि उसने इस समय दूसरे राजाओं के सामने बहुत सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया है। शाहपुरा में राजस्थान की पहली प्रजातंत्री और उत्तरदाई सरकार कायम होगी।

छब्बीसवाँ अध्याय

मध्यभारत के राज्य

[गवालियर, इन्दौर, भोपाल, रीवा]

मैं इस बात को बुरा समझता हूं कि लोगों की माँगें उस समय स्वीकार की जायँ, जब वे माँगते-माँगते थक जायँ, निराश हो जायँ और अशान्ति पैदा करने को तैयार हो जाँय।

—स्व० महाराजा माधवराव

मध्यभारत देशी राज्यों का ही समूह है। इस प्रदेश में कुल मिलाकर ६० राज्य हैं।* इनमें मुख्य ये हैं—गवालियर, इन्दौर, रीवा, बड़ी देवास, छोटी देवास, राजगढ़, नरसिंहगढ़, खिलचीपुर, अजयगढ़, बावनी, दतिया, ओरछा, बिजावर, चरखारी, छतरपुर, पन्ना, समथर, मैहर, नागोद, धार, जावरा, रतलाम, अलीराजपुर, बरवानी, झाबुआ, सैलाना, और सीतामऊ। अन्य राज्य बहुत छोटे-छोटे हैं, यहाँ तक कि किसी-किसी राज्य का क्षेत्रफल पाँच वर्गमील, जनसंख्या, एक हजार से कुछ ही अधिक, और औसत वार्षिक आय

* इस प्रकार मध्यभारत की कुल सवा करोड़ आबादी पर ६० शासकों और उनके शाही परिवारों के खर्च का भार है; यह खर्च जनता की गाढ़ी कमाई का लगभग २५ फी सदी हो जाता है।

केवल बारह हजार रुपये हैं। आगे हम नमूने के तौर से कुछ राज्यों की शासनपद्धति का विचार करेंगे।

छोटे-छोटे राज्यों के लिए संयुक्त व्यवस्था—कुछ समय से भारत-सरकार के सामने छोटे-छोटे देशी राज्यों के लिए संयुक्त हाई-कोर्ट और संयुक्त पुलिस स्थापित करने की योजना रही है। यह योजना मध्यभारत में अमल में आने लगी थी। पहले बुन्देलखंड के लिए ओरछा में संयुक्त हाईकोर्ट और संयुक्त पुलिस की व्यवस्था हुई। पीछे इन्दौर में मालवा समूह के राज्यों के लिए ऐसी ही व्यवस्था हुई। इस समूह में झाबुआ, सैलाना, जावरा और रतलाम आदि मालवा और भोपाल एजन्सी की कुछ रियासतें शामिल थी।

मध्यभारत और राजपूताना—मध्यभारत की पश्चिमोत्तर सीमा राजपूताने से मिली हुई है। यहाँ के निवासियों का रहनसहन, जाति, भाषा राजपूतानावालों की सी ही है। कई राजा राजपूत हैं, और कुछ ऐसे मराठे हैं जो पहले राजपूत थे, पीछे दक्षिण में जाने पर मराठों में मिल गये। उनका राजपूतों से विवाह-सम्बन्ध होता रहता है। इसी प्रकार मध्यभारत में जागीरदारी आदि की समस्याएँ भी राजपूताने के ही समान हैं। साधारणतया मध्यभारत, राजपूताने की अपेक्षा अधिक शिक्षित और उन्नत है, यहाँ जनता के दमन के लिए वैसे मध्य-कालीन उपाय काम में नहीं लाये जाते, जैसे राजपूताने के राज्यों में लाये जाते हैं।

नागरिक स्वतंत्रता की कमी—परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मध्यभारत में नागरिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से परिस्थति विशेष अच्छी रही है। मध्यभारत का बहुत उन्नत समझा जानेवाला इन्दौर राज्य कई वर्ष सभाबन्दी के कानून से कलंकित रहा है; वहाँ प्रजामंडल जैसी शान्ति और अहिन्सा नीति से काम करनेवाली संस्था के वार्षिक अधिवे-शन रोके जाने का उदाहरण मिला। गवालियर में कार्यकर्त्ताओं को बिना

मुकदमा चलाये राज्य से निकाले जाने की घटना जनता के सामने रही है। भोपाल ने भी दमन में खूब नाम पाया है। यह तो उन्नत कहे जानेवाले राज्यों की बात है। इससे अन्य राज्यों की स्थिति के विषय में सहज ही कल्पना की जा सकती है। रतलाम, राजगढ़, जीवट और झाबुआ आदि ने अपने कारनामों से लोकमत को न केवल अपने विरुद्ध, वरन् सब देशी राज्यों के समूह के ही विरुद्ध, बनाने में सहायता दी है।

गवालियर

यह मध्यभारत ,का प्रमुख राज्य है। इसका क्षेत्रफल २६,३६७ वर्गमील, जनसंख्या लगभग चालीस लाख, और वार्षिक आय सवा तीन करोड़ रुपये हैं। वास्तव में इसके दो भाग हैं, उत्तरीय भाग गवालियर, और दक्षिणी भाग मालवा कहलाता है। मालवा कई टुकड़ों में बँटा हुआ है, जिनके बीच में दूसरी रियासतें आ गयी हैं।

स्व० महाराजा माधवराव जी ने सन् १८८६ ई० से सन् १६२५ तक राज्य किया। आपने राज्य की अच्छी उन्नति की। आपके उद्योग से से शासन सम्बन्धी तथा गवालियर राज्य सम्बन्धी छोटी से लेकर बड़ी बातों तक का समावेश 'पोलिसी दरबार' में किया गया।

शासन—नवम्बर १६३६ में श्री० जिवाजीराव ने शासन-सूत्र ग्रहण किया। शासन-कार्य के आठ विभाग हैं :—(१) विदेश और राजनीतिक, (२) सेना, (३) गृह, (४) माल, (५) राजस्व (६) कानून और न्याय, (७) जागीर, (८) व्यापार और उद्योग। प्रत्येक विभाग एक-एक मंत्री के सुपुर्द है। इनके अतिरिक्त दो मंत्री ऐसे भी हैं जिनका कोई विशेष निर्धारित विभाग ('पोर्टफोलियो') नहीं है। ये मंत्री (१) न्याय सम्बन्धी अपील और निगरानी तथा (२) माल सम्बन्धी अपील और निगरानी के कार्य का निरीक्षण करते हैं। पुलिस और 'जयाजी प्रताप'*

*राज्य का हिन्दी-अंगरेजी अर्द्ध साप्ताहिक पत्र।

विभाग स्वयं महाराज के अधीन है। उनकी ओर से हुजूर सेक्रेटरी इनका कार्य संचालन करता है।

सन् १९३९ में एक शासन-सुधार सम्बन्धी घोषणा की गयी। एक दूसरी सूचना द्वारा महाराज ने अपनी पसन्द को एक मंत्री ऐसा रखने का निश्चय प्रकट किया, जो प्रजा में से, गैर-सरकारी हो। तदनुसार श्री० तख्तमल जी जैन स्थानीय स्वराज्य और ग्रामोद्योग मन्त्री नियुक्त किये गये थे। परन्तु लगभग डेढ़ साल बाद ही, उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा, तब से उस जगह पर एक एक्टिंग (कार्यकर्ता) मन्त्री ही काम करता रहा है।

दिसम्बर १९४६ की घोषणा के अनुसार अब (अगस्त १९४७ में) कार्यकारिणी कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ा कर ११ कर दी गयी है। उनमें ५ गैर-सरकारी सदस्य होंगे। खाद्य, कृषि, सहकारिता, ग्राम-सुधार, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी विभाग इन मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिये गये हैं।

व्यवस्थापक मंडल—इसमें दो सभाएँ है। प्रजा-सभा (मजलिस आम) के ९० सदस्य होते हैं—५५ निर्वाचित और ३५ नामजद। निर्वाचित सदस्यों में ४३ देहाती क्षेत्र के, ७ शहरी क्षेत्र के और ५ विशेष वर्गों के होते हैं। नामजद सदस्यों में २० गैर-सरकारी और १५ सरकारी होते हैं। दूसरी व्यवस्थापक सभा (मजलिस कानून) का नाम अब राजसभा है। इसके ४० सदस्य होते हैं—२० निर्वाचित और २० नामजद। निर्वाचित सदस्यों में से ११ देहाती क्षेत्र के, ५ शहरी क्षेत्र के, और ४ विशेष वर्गों के होते हैं। नामजद सदस्यों में ८ गैर-सरकारी और १२ सरकारी होते हैं। दूसरी सभा का होना, और दोनों सभाओं में नामजद सदस्यों का इतना अधिक होना, चिन्तनीय है।

दोनों सभाओं का कार्य-काल तीन-तीन साल निश्चित किया गया है। दोनों का कार्यक्षेत्र समान है। दोनों को प्रश्न पूछने, प्रस्ताव पास

करने, बिल पेश करने और बजट पर बहस करने का अधिकार है। कोई प्रस्ताव संशोधित या मूल रूप में, जब तक दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत न हो, (और पीछे राजकीय स्वीकृति न प्राप्त करले) कानून का रूप धारण नहीं कर सकता। दोनों सभाओं में मतभेद होने पर, उनकी संयुक्त बैठक में विचार होता है।

न्याय—न्याय-कार्य के लिए राज्य में सर्वोच्च संस्था हाईकोर्ट है। उसके अधीन सेशन और जिला-कोर्ट है तथा जिला-सबजज, आनरेरी मजिस्ट्रेटों के कोर्ट एवं परगना कोर्ट-आदि हैं। प्राणदंड के सब मामले महाराज के अन्तिम निर्णय के लिए उपस्थित किये जाते हैं।

आर्थिक स्थिति—आय के साधन परिमित और कम उन्नत होते हुए भी इस राज्य की आर्थिक स्थिति अच्छी है। स्व० महाराजा माधव-राव जी के समय से कई कार्यों के लिए अलग-अलग निधि स्थापित हैं, जो क्रमशः बढ़ती जाती हैं। इस राज्य में डाक और तार का अपना अलग प्रबन्ध है। राज्य की अपनी एक छोटी रेल भी है। प्रारंभिक शिक्षा, परगना व जिला बोर्डों, सहकारिता, कृषि-सुधार. जमींदार-सभाओं एवं निर्माण-कार्यों आदि की दृष्टि से राज्य उन्नतशील है। यह राज्य प्रतिवर्ष दो हजार रुपये लेखको को प्रोत्साहित करने के लिए उनकी उत्तम कृतियों पर पुरस्कार के रूप में प्रदान करता है।*

नागरिक अधिकार—नागरिक अधिकार यहाँ भी नाममात्र के रहे हैं; शासकों की इच्छा पर लोगों को बिना मुकदमा चलाए देश-(राज्य) निकाले तक का दंड दिया जाता रहा है। सन् १६२६ की राजकीय घोषणा में कहा गया था कि जनता को भाषण, लेखन, प्रका-शन, और सभा करने आदि की नागरिक स्वतंत्रता का अधिकार रहेगा। परन्तु अभी स्थिति पूर्णतया संतोषप्रद नहीं हैं। मजदूरों पर गोली

* हमारी कई पुस्तकों पर चालीस रुपए से लेकर दो सौ रुपए तक का पुरस्कार मिल चुका है।

चलाने का एक कांड हाल में ही हुआ था।

राज्य की शासन-रिपोर्ट प्रति वर्ष व्योरेवार प्रकाशित होती है, उसमें महाराजा की साहब की ओर से आलोचना भी रहती है। हाँ, रिपोर्ट अंगरेजी में ही छपती रही है।

जागीरी इलाकों की बात—गवालियर राज्य में छोटी-बड़ी सब मिला कर पाँच सौ से अधिक जागीरें हैं, इनमें से लगभग एक-तिहाई बदइन्तजामी फजूलखर्ची, नाबालगी या आपसी झगड़े आदि के कारण कोर्ट-आफ-वार्डस के अधीन हैं। कितने ही जागीरदार अपने माली, दीवानी, फौजदारी अधिकारों का बहुत दुरुपयोग करते हैं, इससे जागीरी क्षेत्र में अत्याचार, अन्याय और रिश्वत का बड़ा जोर रहता है। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता इस ओर ध्यान दे रहे हैं। कुछ वर्षों से गवालियर-राज्य-सार्वजनिक सभा के अन्तर्गत, जागीरी प्रजा के अधिकारों के वास्ते भी सार्वजनिक सम्मेलन किये जा रहे हैं।

विशेष वक्तव्य—दिसम्बर १९४६ में महाराजा साहब राज्य में उत्तरदाई शासन स्थापित करने की घोषणा कर चुके हैं। उसे अमल में लाने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने वास्ते ११ सदस्यों की कमेटी नियुक्त की गयी है, जिसमें गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत है।

इन्दौर

इन्दौर या होलकर राज्य मध्यभारत के मालवा राज्य और नीमाड़ प्रदेशों में है। यह कई बड़े-बड़े टुकड़ों से मिलकर बना है। यहाँ का क्षेत्रफल ९९२५ वर्गमील, जनसंख्या पन्द्रह लाख, और वार्षिक आय तीन करोड़ रुपये से अधिक है।

मंत्री—मंत्रिमंडल में प्रधान मन्त्री तथा पाँच अन्य मंत्री हैं। शासन-कार्य संचालन के लिए मंत्रिमंडल को पूर्ण अधिकार है, पर वह महाराजा के प्रति उत्तरदायी है, जनता के प्रति नहीं। मंत्रियों के अलावा एक मेम्बर और है जो 'फारेन' (विदेश)—मेम्बर कहलाता है।

व्यवस्थापक परिषद—व्यवस्थापक परिषद में ५६ सदस्य हैं—३७ निर्वाचित और १६ नामजद। चुने हुए सदयों में ४ इन्दौर शहर के, ६ अन्य म्युनिसपल कस्बों के, १७ देहाती क्षेत्र के, १० विशेष वर्गों के रखे गये हैं; और नामजद सदस्यों में ८ सरकारी और ८ गैर-सरकारी हैं। निर्वाचित सदस्यों में से २६ सदस्य प्रजामंडल के हैं। कुछ जगह मुसलमानों के लिए सुरक्षित रहती हैं। विशेष निर्वाचक संघों के प्रतिनिधि इस प्रकार होते हैं:—ग्रेजुएट १, जागीरदार २, कपड़े की मिलें १, अन्य कारखाने १, चेम्बर-आफ-कामर्स, १ व्यापार-व्यवसाय १, स्त्रियाँ ३। इन दस प्रतिनिधियों में से जागीरदारों के दो, कपड़े की मिलों का एक अन्य कारखानों का एक, एवं व्यापार-व्यवसाय का एक, इस प्रकार पांच प्रतिनिधि प्रायः सरकारी पक्ष का ही बल बढ़ानेवाले होने की सम्भावना रहती है। चेम्बर-आफ-कामर्स की स्थापना न होने से उसकी ओर से लिये जानेवाले सदस्य की जगह खाली रहती है। सभापति महाराज साहब द्वारा नियुक्त होता है। उपसभापति का निर्वाचन परिषद के सदस्य करते हैं।

व्यवस्थापक परिषद को प्रश्न पूछने, कानूनी मसविदों के प्रस्ताव पास करने और बजट की कुछ मदों पर केवल वादविवाद करने का अधिकार है। राजपरिवार, सेना, संधि आदि तो परिषद के क्षेत्र से बाहर हैं हीं; परिषद को शासन-विधान तथा ऐसे अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी कोई अधिकार नहीं है, जिन्हें महाराजा साहब परिषद के क्षेत्र से बाहर रखें। व्यवस्थापक परिषद द्वारा पास किये हुए प्रस्तावों को अंतिम स्वीकृति देना तथा उनको अमल में लाना सरकार तथा श्रीमंत महाराज के हाथ में है। सरकार ऐसे कानून को भी बना सकती है और अमल में ला सकती है, जिसे व्यवस्थापक परिषद ने पास न किया हो, या जो परिषद में पेश ही न हुआ हो।

इससे स्पष्ट है कि व्यवस्थापक परिषद की शक्ति और अधिकार

बहुत परिमित है। नये विधान की बात आगे कही जायगी।

न्याय—राज्य में हाईकोर्ट तथा नीचे की अदालतें हैं। यद्यपि न्याय-विभाग शासन-विभाग से अलग कहा जाता है, असल में ऐसा नहीं है। चीफ जस्टिस की तथा हाईकोर्ट के जजों की नियुक्ति श्रीमन्त महाराज ही करते हैं। कुछ समय पहले तो चीफ जस्टिस जूडीशल मिनिस्टर भी थे। कई जगह स्थानीय अमीन (परगने के हाकिम) को को मजिस्ट्रट के अधिकार हैं। न्याय विभाग के छोटे अधिकारियों पर पुलिस का बहुत दबाव रहता है। दमन-काल में मजिस्ट्रट राजनीतिक मुकदमों का फैसला अकसर शासन का रुख देखकर करते थे।

जिलों का प्रबन्ध—इन्दौर राज्य में जिले का प्रधान अधिकारी 'सूबा' कहलाता है। सूबा साहब का मुख्य सम्बन्ध जमीन और मालगुजारी से होता है। वे ही जिले के मजिस्ट्रट होते हैं। उनके अधीन सब-डिवीजन या परगनों के हाकिम होते हैं, जिन्हें अमीन कहा जाता है।

स्थानीय स्वराज्य—इन्दौर शहर में और जिलों में २५ म्युनिसपेलटियाँ हैं। इन्दौर शहर की म्युनिसपेलटी को, हाल में सभापति चुनने अधिकार दिया गया है, इसमें साधारण जनता के सदस्यों का बहुमत है। इसे सरकार से डेढ़लाख रुपये की सालाना ग्रांट मिलती है। यद्यपि सन् १९४६ से जिला-म्युनिसपेलटियों में जनता के प्रतिनिधियों का बहुमत रखा गया है, उन्हें अपना बजट सूबा साहब की मंजूरी के बिना बनाने का अधिकार नहीं है।

सन १९१९ में, यहाँ बड़े-बड़े तथा व्यापारिक महत्व के गाँवों में पंचायतें स्थापित करने के लिए ग्राम-पंचायत-कानून बनाया गया था। सन १९२७ ई० में कृषि तथा सहकारिता विभाग को मिलाकर रेवन्यू मिनिस्टर (माल-मंत्री) के नियंत्रण में, ग्राम-सुधार विभाग का संगठन किया गया। रियासत में कुल ५१७ पंचायतें स्थापित हैं। कुछ

पंचायतें काम नहीं कर रही है। अब पंचायतों में जनता के चुने हुए पंचों का बहुमत रहने लगा है। सरपंच की नियुक्ति गाँववालों की राय से की जाती है। पंचायतों को सरकार से बंधी हुई सहायता नहीं मिलती, जनता के उपयोग के कार्यों के लिए कुछ रुपया दे दिया जाता है। पंचायतों को टेक्स लगाने का अधिकार नहीं है; उन्हें सिर्फ छोटे-छोटे दीवानी और फौजदारी मामले निपटाने का ही अधिकार है, जिससे बीस-पच्चीस रु० साल की आमदनी होती है।

शिक्षा—इन्दौर के कालिज आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं। राज्य में प्रारम्भिक शिक्षा निश्शुल्क है। इन्दौर म्युनिसपेलटी की सीमा में तो यह अनिवार्य भी है। राज्य भर में इसे अनिवार्य करने के उद्देश्य से नेमावर जिले में बड़े वेग से कार्य आरम्भ किया गया था, पर पीछे उसमें शिथिलता आ गयी। राज्य में ग्रामीण पुस्तकालयों के प्रचार के लिए खासा काम हुआ है।

नागरिक अधिकार—इन्दौर नगर में कभी-कभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सम्पादक सम्मेलन, कवि सम्मेलन, खादी प्रदर्शनी आदि संस्थाओं के अधिवेशन हुए हैं, और राज्य की ओर से इन सार्वजनिक कार्यों में सहयोग तथा सहायता मिली है। परन्तु जनता को नागरिक अधिकार यथेष्ट नहीं रहे है। यहाँ पर सभा करने या जलूस निकालने आदि के सम्बन्ध में चिन्तनीय प्रतिबन्ध रहा। राज्य से बाहर के आदमियों का भाषण कराने के लिए राज्य की अनुमति लेना अनिवार्य रहा है। यही नहीं, बाहर के कार्यकर्ताओं पर पुलिस-कर्मचारियों की कड़ी निगाह रहती है।

विशेष वक्तव्य—इन्दौर में कुछ समय से अंगरेज अधिकारियों का बहुत बोलबाला रहा है। पिछले दिनों प्रधान मंत्री तथा दो दूसरे मंत्री अंगरेज थे। जनता ने इसका बड़ा विरोध किया। वह बराबर उत्तरदाई शासन की मांग करती रही है। और, इसके लिए वह सत्याग्रह करने

को भी तैयार रही है। अगस्त १९४७ में महाराजा साहब ने मंत्रियों की संख्या बढ़ा कर आठ करने के साथ अंगरेज मंत्रियों को मुक्त कर दिया और उनकी जगह एक भारतीय प्रधान मंत्री और तीन दूसरे गैर-सरकारी मंत्री रखने का निश्चय किया। दो मंत्री व्यवस्थापक परिषद की सबसे बड़ी पार्टी (प्रजामंडल) और उससे छोटी पार्टी द्वारा पेश किये गये आठ नामों में से चुने जाँयगे और तीसरा मन्त्री महाराजा साहब या तो इन्हीं आठ में से लेंगे, या इनके बाहर से। महाराजा साहब ने यह आश्वासन दिया है कि वे राज्य में प्रतिनिधिक सरकार कायम करना चाहते हैं और राज्य के लिए विधान का मसविदा तैयार करने के वास्ते शीघ्र ही एक कमेटी नियत करेंगे।

अंगरेज प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रियों को हटा कर अवश्य एक बड़ा अन्याय दूर किया गया है। तथापि यह स्पष्ट है कि महाराजा इन्दौर ने राज्य में जनता की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार नहीं की है। भावी सुधारों में इस का कोई निश्चय नहीं है कि शासन जनता के प्रति उत्तरदाई होगा; सिर्फ़ यह कहा गया है कि वह जनता का प्रतिनिधिक होगा; उसके उत्तरदाई होने की भी सम्भावना है, और न होने की भी। अन्तरिम सुधारों में बहुसंख्यक सरकारी मंत्रियों के साथ अल्पसंख्यक गैर-सरकारी मन्त्रियों को जोड़ दिया गया है। मत्रियों की संख्या अकारण बढ़ा दी गयी है; इन्दौर राज्य के लिए इतने मन्त्रियों की आवश्यकता नहीं है। मन्त्रियों के चुनाव करने का तरीका भी दूषित और जटिल है। गैर-सरकारी मन्त्रियों को दिए हुए विभाग विशेष महत्व के नहीं हैं; उन्हें पुलिस, न्याय, कानून, ग्राम-सुधार आदि विषय दिये जाने चाहिएँ। अस्तु, इन्दौर का जागरुक प्रजामण्डल अब ऐसे साधारण छोटे-मोटे दिखावटी सुधारों से संतुष्ट होनेवाला नहीं; अच्छा है, महाराजा साहब जल्दी ही समझदारी से काम लें।

भोपाल

साधारण परिचय—भारतवर्ष भर में, मुसलिम शासकों वाले राज्यों में, केवल हैदराबाद को छोड़ कर, भोपाल का महत्व सबसे अधिक माना जाता है। इस राज्य का क्षेत्रफल ६,६२८ वर्गमील, और औसत वार्षिक आय पचीस लाख रुपया सालाना है। यहाँ की जनसंख्या ८ लाख है, उसमें से सिर्फ सातवाँ हिस्सा मुसलमान और शेष हिन्दू हैं, जिनमें कुछ मूल निवासी गोंड़ भी हैं। प्रधान शासक का पद नवाब है। यहाँ समय-समय पर कई बेगमो ने शासन किया है। सन् १६२६ से नवाब मोहम्मद हमीदुल्ला खाँ का शासन आरम्भ हुआ। ये अपनी माता के राज्य-काल में चीफ-सेक्रेटरी थे। ये नरेन्द्रमडल के चांसलर रहे हैं, तथा उसकी स्थायी समिति के सभासद की हैसियत से १६२८ में इंगलैंड भी गये थे।

प्रबन्धकारिणी सभा—राजप्रबन्ध नवाब साहब स्वयं देखते हैं। आपकी सहायता के लिए एक प्रबन्धकारिणी सभा (एग्जीक्यूटिव कौंसिल) है। इसके प्रेसिडेन्ट (सभापति) प्रधान मंत्री हैं, जिन्हें मदारुलमुहाम कहा जाता है। चार दूसरे मंत्री इसके सदस्य हैं। मंत्री नवाब साहब द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, और उनके प्रति ही जिम्मेवर होते हैं। कोई मंत्री व्यवस्थापक परिषद के प्रति जिम्मेवर नहीं है। प्रत्येक मंत्री को एक या अधिक विषय सौंपा हुआ रहता है। शासन-कार्य प्रायः निम्नलिखित विभागों में विभक्त होता है:—(१) राजनीतिक सम्बन्ध, (२) माल (रेवन्यू), जिसमें कृषि और जंगल आदि सम्मिलित हैं, (३) कानून और न्याय, (४) स्वास्थ्य और चिकित्सा, (५) स्थानीय स्वराज्य, (६) शिक्षा, (७) राजस्व, (८) आयात-निर्यात और आबकारी, (९) सार्वजनिक निर्माण कार्य, (१०) वाणिज्य, उद्योग और श्रम, और (११) साधारण शासन।

सन् १९४७ से नवाब साहब ने तीन मंत्री गैर-सरकारी रखे। पर

ये मंत्री राजनीतिक संस्थाओं के प्रतिनिधि न होकर प्रतिक्रियावादी विचारों के हैं। इनकी नियुक्ति से कुछ इने-गिने स्वार्थी व्यक्तियों को छोड़ कर जनता को कोई संतोष नहीं हुआ; वह तो शुद्ध और पूर्ण उत्तरदाई शासन चाहती है।

व्यवस्थापक परिषद्—व्यवस्थापक परिषद यहाँ सन् १६२७ से है। इसमें अब २६ सदस्य होते हैं—१६ नामजद और १० निर्वाचित। निर्वाचित सदस्यों में ३ भूपाल नगर के, १ सिहोर नगर का, ४ काश्तकार वर्ग के और २ व्यापारी वर्ग के होते हैं। नामजद सदस्यों में १४ सरकारी और २ गैर-सरकारी होते हैं।

नागरिक क्षेत्र से वकीलों और अन्य शिक्षितों का प्रतिनिधित्व होता है। व्यवस्थापक परिषद का सभापति नवाब साहब द्वारा नियुक्त होता है। नामजद सदस्यों के बहुमत के होते हुए, जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की आवाज दबी रहती है। फिर, इस व्यवस्थापक परिषद को केवल यह अधिकार है कि निर्धारित विषयों में से किसी विषय के सम्बन्ध में सरकार से कुछ सिफारिश कर दे। सरकार इसके किसी भी प्रस्ताव को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इसमें फौज, हाईकोर्ट और व्यवस्थापक परिषद आदि सम्बन्धी किसी कानून के संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता। निम्नलिखित विषयों के प्रस्ताव इस परिषद में तब ही विचारार्थ उपस्थित किये जा सकते हैं, जब पहले से शासक की स्वीकृति ले ली जाय:—कोई धर्म, या धार्मिक रीतिरिवाज, भोपाल राज्य का अन्य देशी राज्यों तथा सरकार से सम्बन्ध, सार्वजनिक ऋण, राजकीय आय पर प्रभाव डालनेवाला विषय। परिषद बजट के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दे सकता है, पर वह किसी सरकारी माँग को अस्वीकार या कम नहीं कर सकती। ऐसा कोई नियम नहीं है कि इतने समय के बाद परिषद का नया चुनाव होना चाहिए; इसकी अवधि चाहे जितनी बढ़ायी जा सकती है।

शासक इस परिषद् में लाये बिना भी, कोई कानून बना सकता है, एवं किसी कानून का संशोधन कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार कोई फरमान (आर्डिनेन्स) जारी कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि परिषद् के अधिकार कितने कम और उसका संगठन कितना असन्तोष-प्रद और दकियानूसी है।

न्याय—यहाँ हाईकोर्ट सन् १६२२ ई० में स्थापित किया गया। इसमें चीफ जस्टिस और दो या अधिक जज रहते हैं। इनकी नियुक्ति निर्धारित योग्यता वाले सज्जनों में से, शासक द्वारा की जाती है। हाई-कोर्ट दीवानी और फौजदारी के मामलों की अपील सुनता है और सब मातहत अदालतों के काम की निगरानी करता है। भोपाल शहर के मामलों में इसे प्रारम्भिक या इब्तदाई ('आरिजिनल') अधिकार भी हैं। विशेष दशाओं में इसके फैसलों की अपील सुप्रीम जुडीशल कौंसिल में होती है। इसमें न्याय के तीन विशेषज्ञ होते हैं तथा उनकी सहायता के लिए राज्य के कानून और न्याय विभाग का सेक्रेटरी रहता है। इस कौंसिल की सिफारिशें नवाब साहब की सेवा में भेजी जाती हैं, और उनकी स्वीकृति के बाद अन्तिम निर्णय होता है।

स्थानीय स्वराज्य—राज्य में स्थानीय स्वराज्य की बड़ी कमी है। सिर्फ भोपाल और सिहोर नगर में म्युनिसपेलटियाँ हैं। भोपाल म्युनिस-पेल्टी में १५ निर्वाचित और १० नामजद, तथा सीहोर म्युनिसपेल्टी में ७ निर्वाचित और ५ नामजद सदस्य हैं। चेयरमेन सरकार नामजद करती है। कुछ स्थानों में स्वास्थ्य-कमेटियों की व्यवस्था है।

शिक्षा आदि—राज्य में शिक्षा-प्रचार बहुत मामूली है। अधिकतर शिक्षा-संस्थाएँ भोपाल नगर में ही हैं। देहातों में तो बहुत ही कम है। प्रेस-कानून बहुत कड़ा है। बाहर से छपा हुआ साहित्य मंगाने में भी मायर (चुङ्गी) के कारण बहुत कठिनाई है। १६३७ ई० से यहाँ धार्मिक या अन्य किसी भी प्रकार का भाषण सरकारी इजाजत लिये

बिना, नहीं दिया जासकता। राज्य से बाहर वालों का भाषण तो व्यवहार रूप में, प्रायः बन्द ही है।

शासन सुधारों की बात—सन् १६४६ के आरम्भ में यहाँ शासन-सुधारों का ऐलान हुआ था, और बालिग मताधिकार की बात हुई थी। धारा-सभा के नये चुनाव की तैयारियाँ हुईं परन्तु जनता को उसका रूप साफ तौर से मालूम नहीं हुआ। उधर, भोपाल सरकार ने धार्मिक सभाओं और जलूसों को छोड़ कर शेष सब प्रकार की सभा और जलूस पर कठोर पाबन्दी लगादी। मालूम होता है कि वह शान्ति और सुरक्षा की आड़ में जनता की राजनीतिक प्रगति को रोक रही है; वह मामूली छोटे-मोटे सुधार करके जनता का ध्यान उत्तरदाई शासन की मांग की ओर से हटाना चाहती है। परन्तु लोक परिषद इस विषय में सावधान है।

रीवा

मध्यभारत के बघेलखंड प्रदेश में रीवा राज्य मुख्य है। इसका क्षेत्रफल तेरह हजार वर्गमील, आबादी अठारह लाख और सालाना आमदनी पिचासी लाख रुपये है।

यहां का शासक बघेल राजपूत है। महाराजा गुलाबसिंह सन् १६१८ में गद्दी पर बैठे थे, तब वे पन्द्रह वर्ष के थे। उन्हें शासन अधिकार सन् १६२२ में मिले। सन् १६४२ में उन पर कुछ आरोप लगाये गये, और पीछे उन्हें गद्दी से उतार कर उनके पुत्र श्री मार्तंडसिंह को राजा बनाया गया।

स्टेट कौंसिल—शासन कार्य के लिए महाराज की अध्यक्षता में और उनके ही प्रति उत्तरदाई एक स्टेट कौंसिल है, इसमें पांच से सात तक सदस्य होते हैं, जिनमें उप-सभापति के अलावा प्रायः दो इलाकेदार और शेष मंत्री होते हैं।

सलाहकार समिति—कानून बनाने में सलाह देने के लिए,

'राजपरिषद' है, इसमें प्रायः बीस नामजद सदस्य होते हैं। इसके अधिवेशन होली और विजयदशमी के अवसर पर होते हैं। यहाँ अधिकांश में ब्रिटिश भारत का कानून माना जाता है।

न्याय-कार्य—स्थानीय न्याय-कार्य के लिए पंचायतें हैं, जिन्हें यहां 'चौरा' कहा जाता है। इनके अलावा आनरेरी मजिस्ट्रेट, डिप्टी मजिस्ट्रट, जिला मजिस्ट्रेट और सेशन जज हैं। इनके ऊपर चीफ कोर्ट है, जिसमें तीन जज हैं। चीफकोर्ट की अपील महाराजा साहब के यहाँ होती है।

राज्य में तीन जिले और बारह तहसीलें है। तहसील और जिले के माल विभाग के अधिकारी क्रमशः तहसीलदार, और डिप्टी कमिश्नर होते हैं। डिप्टी-कमिश्नरों के ऊपर रेवन्यू मिनिस्टर होता है। इस विभाग की सब से ऊंची अदालत रेवन्यू बोर्ड है। उस पर महाराजा साहब की निगरानी है।

म्युनिसपेलटियाँ और अन्य बातें—राज्य में पांच म्युनिसपेलटियाँ है। इनमें जनता का यथेष्ट प्रतिनिधित्व नहीं होता। इन्हें कर लगाने आदि का अधिकार विशेष नहीं है। पिछले वर्षों में शिक्षा के प्रचार और उन्नति की ओर अच्छा ध्यान दिया गया, एक डिग्री कालिज कायम हुआ; वाचनालय, संग्रहालय और साहित्यिक संस्थाओं के काम में प्रगति हुई। यहाँ महिला आश्रम और जनाना अस्पताल पहले से है। लेकिन खासकर राजधानी (रीवा नगर) को छोड़ कर दूसरे स्थानों में सार्वजनिक संस्थाएँ बहुत कम हैं।

राज्य का बजट और वार्षिक रिपोर्ट छपती तो है, पर प्रायः अफसरों और दूसरे खास-खास आदमियों को ही मिलती है। रीवा का दो-तिहाई भाग इलाकेदारों और ज़मींदारों के अधीन है।

महाराजा पर अभियोग—सन् १६४२ में राजनीतिक विभाग ने महाराजा गुलाबसिंह जी पर हत्या का, और रेजीडन्सी से गुप्त सूचनाएँ

प्राप्त करने का गम्भीर अभियोग लगाया। इस पर एक कमीशन द्वारा इन्दौर रेजीडेन्सी में जांच की गयी। यद्यपि कमीशन के बहुमत ने महाराजा को निर्दोष ठहराया, वायसराय ने महाराजा के अपने पद पर रीवा लौट आने में कुछ शर्तें लगादीं। महाराजा ने शर्तें स्वीकार करलीं और कुछ महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ वायसराय के आदेशानुसार होने दीं, जिन में प्रधान मन्त्री के पद पर एक अंगरेज सिविलियन की नियुक्ति भी थी। महाराजा को पीछे यह साफ ज़ाहिर हो गया कि शासन-सूत्र महाराज के हाथों में न रह कर राजनीतिक विभाग के इशारे पर चलनेवाली कौंसिल के हाथ में है।

महाराजा का गद्दी से उतारा जाना—आखिर, महाराज ने १६ अक्तूबर १६४५ को उत्तरदायी शासन की घोषणा करदी। राजनीतिक विभाग को यह सहन न हुआ। उसने बदले की भावना से महाराज की इच्छा के विरुद्ध युवराज मार्तंडसिंह को विदेश भेजने का निश्चय किया। पीछे मामला यहां तक बढ़ा कि महाराज को गद्दी से उतार कर युवराज को राजा बना दिया गया।* सरकारी विज्ञप्ति में बड़े ढंग से कहा गया कि 'यदि महाराजा का दोष सिर्फ उत्तरदाई शासनपद्धति स्थापित करना होता तो यह बात बर्दाश्त करली जाती।' मतलब यह कि यह भी दोष तो माना ही गया। जनता कुछ और न समझे, इस लिए सरकारी विज्ञप्ति में उत्तरदाई शासन की घोषणा का दबी जबान से स्वागत करते हुए यह भी कहा गया कि 'लोकप्रिय' शासनपद्धति जारी करने के लिए नये महाराजा फौरन एक कमेटी नियुक्त करेंगे, जिसमें राज्य के सभी हितों के प्रतिनिधि होंगे और उसका अध्यक्ष योग्यतम व्यक्ति होगा।

* रीवा की अंगरेजों से मित्रता की संधि थी, इस विचार से महाराजा को गद्दी से नहीं उतारा जा सकता था। पर संधियों का मूल्य क्या रहा है, यह पहले अच्छी तरह बताया जा चुका है।

विशेष वक्तव्य; सुधारों की घोषणा—अगस्त १९४७ में महाराजा मार्तंडसिंह जी ने शासन-सुधारों की घोषणा की, उसका उद्देश्य उनकी देखरेख में उत्तरदाई शासन स्थापित करना है। राज्य में दो सभाएँ होंगी—लोकसभा और राजसभा। लोक सभा में किसी के लिए स्थान सुरक्षित नहीं रखे जायँगे, राजसभा में ५० प्रतिशत स्थान इलाकेदारों के लिए सुरक्षित रहेंगे। सलाहकार समिति बनायी जायगी, उसमें सब जातियों के आदमियों का प्रतिनिधित्व होगा, और वह मंत्रिमण्डल को सलाह देती रहेगी। प्रधान मंत्री को महाराजा साहब चुनेंगे, और दूसरे मन्त्री प्रधान मन्त्री तथा जनता की राय से चुने जायँगे। अन्तर्कालीन समय के लिए नया मन्त्रिमण्डल बनाया जायगा, उसमें सब दलों के प्रतिनिधि होंगे।

यह स्पष्ट है कि प्रधान मंत्री का महाराजा द्वारा नियुक्त होना और राजसभा में जागीरदारों के लिए ५० प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखना इस युग में एक दम प्रतिगामी है। अब तो पूर्ण उत्तरदाई शासन चाहिए। कुछ लोग भूतपूर्व महाराजा साहब से (जो इस समय राज्य में आ गये हैं) इस विषय में बहुत-कुछ आशाएँ रखते है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

हैदराबाद

जिस राज्य में एक ही धर्मवाली जनता की प्रधानता हो, वहाँ साम्प्रदायिकता का क्या अर्थ हो सकता है? हैदराबाद में स्टेट-कांग्रेस उस अर्थ में 'साम्प्रदायिक' कभी नही हो सकती, जिसमें इस शब्द का प्रयोग भारतवर्ष में किया जाता है।

—म० गाँधी

इस राज्य का क्षेत्रफल ८२,६९८ वर्गमील जनसंख्या एक करोड़, बासठ लाख, और वार्षिक आय सतरह करोड़ रुपये है। वहाँ की ८२

प्रतिशत जनता हिन्दू है। राजवंश मुसलमान है। शासक 'निजाम' कहलाता है।

इस राज्य की विशेषताएँ—यह रियासत आबादी के लिहाज से भारतवर्ष की रियासतों में सब से बड़ी है। यह सब से अधिक धनवान भी है। बरार के प्रश्न से भी इसका बहुत महत्व रहा है। फिर, १५ अगस्त १६४७ तक भारतीय संघ में शामिल न होकर इसके स्वतंत्र होने के विचार ने भी इसे देश भर में चर्चा का विषय बना रखा है।

यद्यपि क्षेत्रफल के विचार से इस देश की सब से बड़ी रियासत कश्मीर है, पर उसका अधिक भाग पहाड़ी होने के कारण उसकी आबादी उसके विस्तार की दृष्टि से कम है। हैदराबाद की आबादी से कश्मीर से चौगुनी अधिक है। भूमि उपजाऊ और धन धान्य से पूर्ण होने के कारण, यह भारतवर्ष की प्रमुख रियासत हो गयी है। मोटे हिसाब से इस की आबादी तीन हिस्सों में बटी हुई है—आन्ध्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक। ये तीनों हिस्से भाषा और सस्कृति के लिहाज से एक दूसरे से अलग-अलग हैं, परन्तु पास के प्रान्तों के इसी प्रकार के हिस्सों से इनका गहरा और स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस प्रकार हैदराबाद रियासत तीन जुदा-जुदा तरह के हिस्सों का समुदाय है।

इस राज्य का संस्थापक अब से सवा दो सौ वर्ष पहले उत्तरी भारत से यहाँ आया था, वह रियासत की तीन अलग-अलग भाषाओं का जानकार न था, और जानकार बनना कठिन और परिश्रम-साध्य भी था। उसने अपनी सुविधा का विचार करके अपनी मातृ-भाषा उर्दू को यहाँ की राजभाषा बनाया। अब यह भाषा यहाँ के दफ़्तर, अदालत, शिक्षा और व्यापार की भाषा बनी हुई है। इस भाषा के जाननेवाले अधिकतर मुसलमान हैं, इसलिए यहाँ की अधिकांश आबादी हिन्दुओं की होते हुए भी मुसलिम अहलकारों का जोर है। उनमें से कुछ तो बाहर से आये हुए होते हैं, और जो स्थानीय होते हैं,

वे भी जनता के विशेष सम्पर्क में नहीं आते । रियासत की अधिकतर आबादी हिन्दुओं की होने के कारण निजाम वंश अँगरेजोंकी मित्रता का पक्षपाती रहा है; यहाँ अगरेज अफसरों का बोलबाला रहा है।

बरार का सवाल—सन १८५३ में निजाम ने बरार प्रान्त तथा उसमानाबाद और रायपुर जिले कम्पनी को इसलिए दिये थे कि इनकी आय से कम्पनी की हैदराबाद सम्बन्धी फौज का खर्च चले, और जो रकम शेष रहे, वह निजाम को दे दी जाया करे। सन १८५७ ई० में निजाम ने सरकार को खूब सहायता दी। इसके उपलक्ष्य में उसमानाबाद और रायपुर जिले उसे वापिस कर दिये गये। सन १६०२ के समझौते के अनुसार निजाम ने ब्रिटिश सरकार को २५ लाख रु० सालना में बरार प्रान्त का स्थायी पट्टा दे दिया। हैदराबाद सम्बन्धी फौज भारतीय सेना का अंग बन गयी, और बरार ब्रिटिश भारत में मिलाया जाकर मध्यप्रान्त के चीफ-कमिश्नर (पीछे गवर्नर) के अधीन हो गया।

सन १६१४-१८ ई० के योरपीय महायुद्ध में निजाम ने ब्रिटिश सरकार की जो सहायता की, उसके प्रतिफल-स्वरूप सन १६१८ में सम्राट पंचम जार्ज ने निजाम को 'हिज ऐग्जाल्टेड हाइनेस' की पैतृक उपाधि तथा ब्रिटिश सरकार के विश्वास-पात्र मित्र ('फेथफुल एलाइ') का पद प्रदान किया। १६२३ में निजाम ने बरार वापिस लेने की माँग उपस्थित की, परन्तु वायसराय और भारत-मन्त्री ने निजाम के इस दावे को नामंजूर कर दिया। सन् १६३६ में भारत-सरकार और इस राज्य की नयी संधि हुई:—निज़ाम को बरार के सम्बन्ध में जो पचीस लाख रुपये सालाना मिलते थे, वे मिलते रहेंगे। बरार पर निजाम का प्रभुत्व माना गया, यहाँ ब्रिटिश पताका ('यूनियन जेक') के साथ निजाम का झंडा भी फहराएगा, और हैदराबाद के युवराज को 'हिज़ हाइनेस

प्रिंस-आफ-बरार' की उपाधि रहेगी। निजाम सरकार बरार में अपना दरबार कर सकेगी, और उपाधियाँ दे सकेगी। उस का एक एजन्ट मध्यप्रान्त-बरार की राजधानी नागपुर में रहा करेगा और समय-समय पर यहाँ की प्रान्तीय सरकार के सामने निजाम सरकार सम्बन्धी दृष्टिकोण रखेगा। इसके अतिरिक्त, मध्यप्रान्त और बरार का गवर्नर नियुक्त किये जाने के समय ब्रिटिश सरकार निजाम हैदराबाद का भी परामर्श लिया करेगी।

सन् १९४७ में अंगरेजों के भारत से चले जाने की बात शुरू होने पर निजाम ने फिर बरार को हथियाने का मनसूबा किया। इस से निजाम की निरंकुशता और कट्टरता जाननेवाले सभी क्षेत्रों में, और खास कर बरारी जनता में क्षोभ पैदा हो गया। उसने स्वतंत्र बरार समिति' का प्रभावशाली संगठन किया और निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, हम निजाम के शासन में न रहेंगे। अस्तु, भारत के शासन के लिए अस्थाई विधान के रूप में, १९३५ के शासन-विधान की बरार सम्बन्धी धारा इस प्रकार संशोधित कर दी गयी कि बरार जैसे भारतीय संघ की स्थापना से पहले एक गवर्नर के अधीन मध्यप्रान्त के साथ शासित होता था, उसी प्रकार अब शासित होता रहेगा। पिछले कानून में निजाम की सार्वभौमिकता का जो जिक्र था, वह निकाल दिया गया है। इस प्रकार बरार की वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में, जहाँ तक भारत सरकार का सम्बन्ध है, स्पष्ट निर्णय हो गया।

शासन-प्रबन्ध—इस राज्य की शासन-व्यवस्था पहले वैयक्तिक शासन के रूप में थी, सब शासन-कार्य दीवान द्वारा होता था। सन् १९१४ से लगभग पांच वर्ष तक निजाम ने बिना किसी प्रधानमंत्री या दीवान के काम किया। सन् १९१९ में प्रबन्धकारिणी सभा (एग्जीक्यूटिव कौंसिल) स्थापित की गयी। इसमें अब दस सदस्य हैं, शासन-कार्य इन दस सदस्यों को सौंपे हुए विविध विभागों में विभक्त है। प्रबन्ध-

कारिणी सभा व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं है। सन् १६४६ की घोषणा में कहा गया है कि इसका एक हिन्दू और एक मुसलमान मेम्बर व्यवस्थापक सभा के निर्वाचित सदस्यों में से नियुक्त किये जायगे।

व्यवस्थापक परिषद्—यहाँ व्यवस्थापक परिषद सन् १८६३ में स्थापित की गयी थी। पर उसका संगठन उसके नाम को लजाने वाला था। यह इससे जाहिर हो जाता है कि उसमें कुछ सुधार हो जाने पर भी सन् १६०५ में उसमें केवल २० सदस्य रहने लगे थे, १२ सरकारी, ६ गैर-सरकारी और २ असाधारण। इनमें 'निर्वाचित' सदस्य केवल ४ थे—दो, कानून पेशेवालों द्वारा; और दो, जागीरदारों द्वारा चुने हुए। सितम्बर १६३७ में तीन सरकारी और दो गैर सरकारी सदस्यों की एक समिति ऐसा विधान तैयार करने के लिए बनायी गयी, जिससे 'रियासत की कई तरह की रियाया के हितों की हिफाजत के साथ राजकार्य में सहयोग भी हासिल हो।' इस समिति की रिपोर्ट आने के काफी समय बाद, सन् १६३६ में निजाम ने शासन-सुधारों की घोषणा की। ये सुधार बहुत अनुदार और प्रतिगामी थे। तो भी कट्टर मुसलिम संस्थाओं ने इन्हें बहुत अधिक बता कर, इनके दिये जाने का विरोध किया। इधर महायुद्ध शुरू हो जाने के कारण अधिकारियों को उसका बहाना मिल गया। निदान, सुधार अमल में नहीं लाये गये। आखिर, जुलाई सन् १६४६ में उन सुधारों में और 'सुधार' करके उनकी घोषणा की गयी।

सन् १६४६ के सुधार--नयी योजना के अनुसार बननेवाली व्यवस्थापक सभा में कुल १३२ मेम्बर होंगे—७६ चुने हुए, ३८ नामज़द ५ बड़े-बड़े जागीरदारों के और १३ सरकार द्वारा नियुक्त। गैर-सरकारी सदस्यों में से ५८ हिन्दू, ५८ मुसलमान २ ईसाई और १ पार्सी होगा। चुने हुए ७६ मेम्बरों का ब्योरा इस प्रकार है—

३२ खेतीवालों के प्रतिनिधि, २० जमीन और मकानों के मालिकों और किरायेदारों के, ४ संस्थानों और जागीरों के, ४ मजदूरों के, २ व्यापार के, २ उद्योग धंधों के, २ बेंक व्यवसाय के, १ कानूनी पेशे के, २ ग्रेजुएटों के, २ स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के, १ माशदारों (सरकार द्वारा ज़मीन या नकद के रूप में ग्रांट पाने वालों) के प्रतिनिधि होंगे। इस प्रकार प्रतिनधित्व प्रादेशिक न होकर धंधेवार है।*

३८ नामजद जगहों में से आधी गैर-सरकारी लोगों को दी जायंगी। नामजदगी पेशे के अनुसार होगी, और इसमें सम्प्रदाय का विचार रखा जायगा।

सरकार द्वारा नियुक्त १३ सदस्यों में से १० प्रबन्धकारिणी के और ३ सर्फे खास मुबारक (निजाम की निजी जमींदारी) के आदमी होंगे।

सब चुनाव सम्मिलित निर्वाचनपद्धति से होगा पर वह इस तरह होगा कि (क) अगर एक हिन्दू या मुसलिम उम्मेदवार अपनी जाति के कम-से-कम ५१ फी सदी मत पाले तो वह चुना हुआ माना जायगा, चाहे उसे दूसरी जाति से कितने ही मत मिलें।† (ख) अगर किसी भी उम्मेदवार ने अपनी जाति के ५१ फी सदी मत प्राप्त नहीं किये तो उन दो उम्मेदवारों में से जिन्होंने अपनी जाति के सबसे ज्यादा मत पाये हैं, चुना हुआ व्यक्ति उसे घोषित किया जायगा, जिसने कुल मिला

*धंधेवार प्रतिनिधित्व के पक्ष में कहा जाता है कि इसके द्वारा लोगों के आर्थिक हितो का पूरा प्रतिनिधित्व होग। परन्तु जब कि राज्य की अस्सी प्रतिशत आबादी किसान हैं, तब व्यवस्थापक सभा के ७६ निर्वाचित सदस्यों में से उनके प्रतिनिधि केवल ३२ ही क्यों हो!

† यदि किसी इलाके में १०० मतदाता हैं, ५ मुसलमान और ९५ हिन्दू और वहाँ मुसलिम उम्मेदवार को २ मुसलमानों और ९० हिन्दुओं के मत मिलते हैं तो वह उस मुसलिम उम्मेदवार से हार जायगा जिसे ३ मुसलमानों और ५हिन्दुओं के मत मिले हैं। सिर्फ आठ मत पानेवाला उम्मेदवार बानवे मत पानेवाले के मुकाबले में जीत जायगा। सम्मिलित निर्वाचन प्रथा का कैसा दुरुपयोग है!

कर सबसे अधिक मत पाये हों।

मत देने का अधिकार उसी व्यक्ति को होगा जो १००) लगान या टेक्स देता हो, या ५) महीने के मकान में रहता हो, या जिसके पास इतनी आमदनी की ज़मीन या घर हो।* उम्मेदार के लिए भी यही योग्यता होना जरूरी है।

व्यवस्थापक सभा में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया है। परन्तु विचार करने की बात है कि रियासत में ऐसे किसान बहुत कम होंगे, जो १००) लगान देते हों। इसलिए किसानों के स्थान पर जमींदार ही चुने जायँगे, और इन ज़मींदारों से जनहित की बिलकुल आशा नहीं है। बैंकर, मकान मालिक, सरदार, उद्योग और व्यापारी स्थानों से आनेवाले प्रतिनिधि भी जनहित की बात बहुत कम सोचते हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि जन-प्रतिनिधि किसी भी तरह अपना बहुमत नहीं बना सकते।

मुसलमानों का पक्षपात—इस राज्य के शासन की एक खास बात इसका मुसलमानों के प्रति घोर पक्षपात है। यहाँ की प्रबन्धकारिणी कौंसिल की अर्ज़दास्त (सन् १६३६) में कहा गया है—"इस राज्य में मुसलमानों की ऐतिहासिक स्थिति और राजनीतिक दर्जे का कारण इस जाति का महत्व ऐसा स्पष्ट है कि व्यवस्थापक सभा में इसको अल्पसंख्यक की स्थिति नहीं दी जा सकती। हरेक आदमी को यह बात माननी चाहिए कि मुसलमानों की यहाँ ऐसी स्थिति है कि उसके कारण इस राज्य के राजनीतिक तथा नैतिक शक्ति बढ़ाने में उन्होंने जो योग दिया है, वह कभी भी हिन्दुओं से कम नहीं रहा है।—निर्वाचित और नामजद सदस्यों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों की संख्या बराबर रहे।"

शासन-सुधार सम्बन्धी योजनाओं में मुसलमानों के प्रति निजाम

---

* हिसाब लगाने से मालूम होता है कि सिर्फ एक फी सदी जनता को ही मताधिकार है।

सरकार की ऐसे ही भावना बराबर बनी रही है। इसका पक्षपात समझने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि हैदराबाद राज्य में हिन्दुओं की संख्या ८२ प्रतिशत है, जब कि मुसलमान सिर्फ १३ प्रति शत हैं। इस प्रकार यहाँ व्यवस्थापक सभा में निर्वाचित और नामजद सदस्यों की बराबरी रखना अनुचित है। फिर, कुल सदस्यों का विचार करने से मुसलमानों के प्रति और भी अधिक पक्षपात साबित हो जाता है:—

सदस्य	हिन्दू	मुसलमान
निर्वाचित	३८	३८
नामजद	१६	१६
सर्फे खास	...	३
पैगा	...	३
सालरजंग जागीर	...	१
पेशकारी जागीर	१	...
प्रबन्धकारिणी कौंसिल	१	६
योग	५६	७३

व्यवस्थापक सभा के अधिकार—व्यवस्थापक सभा का संगठन कितना खराब है, यह स्पष्ट है। फिर, इसके अधिकार भी बहुत ही कम है। कितने ही विषय इसके क्षेत्र के बाहर हैं, उनके बारे में सभा में न कोई प्रस्ताव किया जा सकता है, और न कोई प्रश्न ही पूछा जा सकता है। कुछ विषयों के प्रस्ताव या प्रश्न करने के लिए पहले से सरकार की इजाजत लेनी पड़ती है। सभा अपने परिमित क्षेत्र के विषयों के भी जो प्रस्ताव करती है, उन्हें स्वीकार करने या रद्द करने का निजाम साहब को पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार किसी कानून का बनना या न बनना निजाम साहब की इच्छा पर निर्भर है। यह सभा कुछ बातों पर—वेतन, पेन्शन, उर्दू भाषा,

पुलिस, जागीर आदि पर—बहस नहीं कर सकती। वह बजट की कुछ मदों पर बहस कर सकती है। पर सरकार उसके निर्णय को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि हैदराबाद के सुधार महत्वहीन है।

न्याय—सन् १६२१ से निजाम ने अपने राज्य में न्याय विभाग को शासन से पृथक् कर रखा है। एक हाईकोर्ट है, जो अधीन अदालतों सहित कार्य कर रहा है। डिविजनल जज, जिला-जज और ताल्लुका-मुन्सिफों को अपने-अपने क्षेत्र में दीवानी तथा फौजदारी के अधिकार हैं। न्याय सम्बन्धी अन्य अधिकारी सिटी-सिविलजज, सिटी-मजिस्ट्रेट, स्पेशल मजिस्ट्रेट, आनरेरी सेशनजज, और आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं।

स्थानीय स्वराज्य—स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के विषय में इस राज्य की स्थिति अच्छी नहीं रही है। हैदराबाद नगर की म्युनिसिपल कारपोरेशन तक के संगठन में, सन् १६३४ तक निर्वाचन-सिद्धांत का समावेश नहीं किया गया था। अब भी उसमें नामजद सदस्य बहुत होते हैं।

सब दीवानी जिलों में जिला-बोर्ड हैं और प्रत्येक ताल्लुके में ताल्लुका-बोर्ड हैं। इनके सभापति रेवन्यू अफसर होते हैं, और इनके सदस्यों में सरकारी और गैर-सरकारी सदस्य बराबर-बराबर संख्या में नामजद किये हुए रहते हैं। बड़े-बड़े कस्बों में म्युनिसिपल कमेटियाँ स्थापित हैं, जिनमें सरकारी तथा गैर-सरकारी नामजद सदस्य रहते हैं।

शिक्षा आदि—राज्य के अन्तर्गत निजाम के डाक, स्टाम्प और टकसाल विभाग स्वतंत्र है; बहुत सी रेलवे लाइन भी राज्य की अपनी है। राज्य की मुद्रा, शासक के वंश के नाम पर, उसमानिया सिक्का कहलाती है। सन् १६१८ से यहाँ उसमानिया यूनिवर्सिटी विविध विषयों की उच्च शिक्षा उर्दू द्वारा देती है; उसमें अंगरेजी भाषा अनिवार्य है। निजाम कालिज, जो प्रथम श्रेणी का है, मदरास विश्व-विद्यालय से

सम्वद्ध है। उर्दू में ऊँचे दर्जे का साहित्य तैयार कराने या अनुवाद कराने का काम खूब जोर से हो रहा है। राज्य में एक बढ़िया महिला कालेज भी है। लेकिन सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार बहुत कम है—सिर्फ नौ फी सदी आदमी ही पढ़ना-लिखना जानते है; हिन्दू ६ फीसदी, और मुसलमान १७ फीसदी। इसका एक कारण यह है कि जनता की मातृ-भाषाओं की उपेक्षा की जाती रही है। अब इसमें कुछ सुधार हो गया है; प्राइमरी स्कूलों में तेलगू, मराठी और कनाडी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाने लगी है। उच्च शिक्षा में तो अब भी उर्दू का ही बोलवाला है।

नागरिक अधिकार—राज्य में जनता के नागरिक अधिकार बहुत कम रहे हैं। सभाएँ करने, जलूस निकालने, सार्वजनिक उत्सव मनाने, यहाँ तक कि प्राइवेट स्कूल स्थापित करने तक में बहुत प्रतिबंध रहे। सन् १९३८ ई० के अन्त में हिन्दू महासभा ने नागरिक स्वतन्त्रता के विचार से, तथा आर्यसमाज ने विशेषतया धार्मिक अधिकार प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह किया। हजारों आदमी जेल गये, और कई-एक ने अपने प्राणों की भेंट चढ़ायी। जुलाई सन् १९३९ में निजाम ने अपने फरमान में सुधारों की घोषणा के साथ यह स्पष्ट किया कि भविष्य में आम तौर से सभा करने के लिए पहले से मंजूरी लेने की जरूरत न होगी, सिर्फ सूचना देना काफी होगा। समाचारपत्रों के प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के नियम बनाये जाने का भी आश्वासन दिया गया था। यहाँ यह जिक्र करना जरूरी है कि आर्यसमाज के आन्दोलन में अधिकाश सत्याग्रही उत्तरी भारत के थे, इसलिए राज्य की जनता को विशेष बल न मिला। जनता की नागरिक प्रगति अधिकांश में स्वयं अपने पुरुषार्थ से होती है।

जागीरी इलाकों की दशा—राज्य के कुल क्षेत्रफल का ४५ फी सदी हिस्सा जागीरदारों और नवाबों के अधीन है। इन जागीरों और

पैगाओं आदि में रहनेवाली जनता सामन्तवाद की दोहरी गुलामी में रहती है। इनमें शिक्षा की व्यवस्था बहुत ही कम है; सिर्फ तीन-चार फी सदी आदमी पढ़-लिख सकते हैं। स्वास्थ्य, सफाई और चिकित्सा का भी प्रबन्ध नहीं है। जनता की जान माल और इज्जत पर जागीरदार और उनके कारिन्दों का अधिकार है। तरह-तरह के अन्यायपूर्ण टैक्स वसूल किये जाते हैं। रिश्वतखोरी बहुत बढ़ी हुई है। अधिकतर किसान भारी कर्जे में दबे हुए हैं। अधिकारियों के दुर्व्यवहार के कारण, राज्य के कर्जदारी कानून, सहयोग समितियों और ग्रामोद्धार के कार्यों से उनका कुछ वास्तविक हित नहीं हो पाता। बेगार प्रथा गैर-कानूनी होने पर भी प्रचलित है।

निजाम और भारतीय संघ—जब से अंगरेजों के भारत से बिदा होने की बात चली, निजाम की यह इच्छा रही है कि भारतीय संघ से अलग, स्वतंत्र रूप से रहे। इसके सम्बन्ध में अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद के स्थानापन्न अध्यक्ष श्री० डाक्टर पट्टाभि सीतारामैय्या ने कहा था कि जैसे ही निजाम अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करेगा, ८५ लाख आन्ध्र, अपने आन्ध्र प्रान्त में मिलने का अधिकार घोषित कर देंगे, और ४५ लाख महाराष्ट्र और ३५ लाख कनाडी भावी महाराष्ट्र और कर्नाटक में शामिल हो जायंगे। अगस्त १९४७ में निजाम ने कहा कि जब तक यह ज्ञात नहीं हो जाता कि भारत तथा पाकिस्तान का आपसी सम्बन्ध कैसा होगा, तब तक हैदराबाद इनमें से किसी में भी शामिल होने का विचार नहीं रखता। निजाम ने भारतीय संघ से एक संधि करने का प्रस्ताव किया, जिससे यातायात सम्बन्धी व्यवस्था हो जाय। भारतीय संघ की रक्षा के लिए हैदराबाद ने फौज से सहायता करने और भारतीय संघ की वैदेशिक नीति से मेल खाती हुई अपनी वैदेशिक नीति निर्धारित करने की रजामन्दी जाहिर की। किन्तु शर्त यह रखी कि भारतीय और पाकिस्थान डोमिनियनों ने एक दूसरे

के विरुद्ध शस्त्र धारण किया तो हैदराबाद तटस्थ रहेगा। उसने ब्रिटेन में तथा अन्यत्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त करने के अधिकार को भी सुरक्षित रखना चाहा।

निजाम की ये शर्तें अव्यावहारिक है। कोई केन्द्रीय सरकार अपने से सम्बन्ध जोड़नेवाली इकाई को ऐसी छूट नहीं दे सकती। रक्षा, यातायात और वैदेशिक मामले पूरे तौर से केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहने ही चाहिएँ। निजाम मुसलमान होने के कारण तेरह प्रतिशत मुसलमानों की भावना का बहाना लेकर कह रहा है कि वह भारतीय संघ में शामिल होना नहीं चाहता। वह यह विचार नहीं करता कि हैदराबाद की ८७ प्रतिशत जनता की जोरदार मांग है कि वह भारतीय संघ में शामिल हो। वह इस जनता के विरोध का कब तक सामना करेगा? भारतीय संघ की सरकार भी निजाम की इस मनोवृत्ति को सहन न करेगी। इस लिए निजाम का जल्दी ही रास्ते पर आना ठीक होगा।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

बम्बई प्रान्त के राज्य

[औंध और सांगली]

निस्सन्देह औंध एक छोटा सा राज्य है, परन्तु उसने वह मार्ग दिखा दिया है, जिस पर बड़े-बड़े राज्यों का यथासम्भव जल्दी ही चलना बुद्धिमानी का काम होगा। —एम० एस० अणे

बम्बई प्रान्त के देशी राज्यों में मुख्य कोल्हापुर, औंध, अक्कलकोट, भोर, जंजीरा, मुधोल, सांगली और सावंतवाडी है। कोल्हापुर के अतिरिक्त अन्य राज्य छोटे-छोटे, कम आय और थोड़ी आबादी वाले हैं। इन राज्यों में से सावनूर और जंजीरा के शासक मुसलमान हैं। शेष सब

राज्यों के शासक मराठा या कोकनस्थ ब्राह्मण हैं; इनके संस्थापक प्रायः शिवा जी महाराज या पेशवाओं के वंशज या उनके जागीरदार थे। इन राज्यों की संख्या कुल मिला कर १८ है, जिनमें एक जागीर भी है। इनका क्षेत्रफल लगभग ११ हजार वर्गमील, आबादी करीब २७ लाख, वार्षिक आय लगभग पौने दो करोड़ रुपये है। ये रियासतें ब्रिटिश प्रान्तों में बिखरी हुई है। कुछ कर्नाटक के पास पहुँच जाती हैं तो कुछ महाराष्ट्र में हैं, कुछ निजाम की सरहद के पास हैं। इनकी भाषा, निवासियों के रहन सहन, संस्कृति बिलकुल भिन्न भिन्न हैं। एक दो रियासतों में तो शासक की भाषा, संस्कृति, रहन-सहन पद्धति दूसरी है और जनता की भाषा, संस्कृति आदि दूसरी है।

इन रियासतों में सब से बड़ी रियासत कोल्हापुर है, इसका क्षेत्रफल ३२१७ वर्गमील, जनसंख्या लगभग दस लाख और वार्षिक आय पचास लाख रुपये से अधिक है। परन्तु यह रियासत भी बहुत बिखरी हुई है; इसके विविध भाग एक दूसरे से इतने दूर दूर हैं कि उनका शासन सुचारू रूप से होना कठिन है। फिर, इन हिस्सों की भी भाषा, संस्कृति, आर्थिक साधन आदि की दृष्टि से कोई समानता नहीं। इन रियासतों के राजा कुछ समय से इन रियासतों का एक संघ बनाने का विचार कर रहे हैं। हर्ष का विषय है इनका दृष्टिकोण उदार रहा है, ये जनता के हित का ध्यान रखते रहे हैं। हम नमूने के तौर से इनमें से दो राज्यों औंध और सांगली की शासनपद्धति के बारे में आगे लिखते हैं।

औंध

यह राज्य बहुत छोटा होने के अलावा सोलह अलग-अलग टुकड़ों में बँटा हुआ है तो भी अपने शासन के लिए खूब प्रसिद्ध है। इसका क्षेत्रफल ५०० वर्गमील, जनसंख्या लगभग नब्बे हजार, और औसत वार्षिक आय साढ़े पांच लाख रुपये हैं। यहाँ के शासक ब्राह्मण हैं, और पन्त प्रतिनिधि कहलाते हैं। ये दक्षिण के प्रथम श्रेणी के

सरदारों में गिने जाते हैं। ये परशुराम त्रिम्बक के वंशज कहे जाते हैं, जिन्हें सन् १७०० के लगभग, सतारा की राणी ताराबाई (राजाराम भोंसले की विधवा) ने जागीर दी थी।

शासक की विशेषता—मेहरबान गोपाल कृष्णराव (उपनाम नानासाहब पन्त) को, जो सन् १६०५ में गद्दी पर बैठे थे, गद्दी से उतार कर सरकार ने उनके चाचा भवनराव (उपनाम बालासाहब पन्त) को सन् १६०६ में गद्दी पर बैठाया। आपकी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि आपने स्वेच्छा से जनता को वह शासनाधिकार प्रदान किया, जिसे देने में अनेक राजा, प्रजा के बहुत आन्दोलन करने पर भी, बड़ी शिथिलता और संकोच किया करते है।

सन् १६३६ का विधान; शासन प्रबन्ध—इस राज्य के वर्तमान विधान का सन् १६१७ से क्रमशः विकास हुआ है। सन् १६३४ में यहां शासन और न्याय विभाग अलग-अलग किये गये। सन् १६३८ में में राजा साहब ने उत्तरदाई शासन की घोषणा की। आपके सुपुत्र श्री० अप्पा जी ने म० गाँधी से विचार-विनिमय किया। सन् १६३६ का नया विधान बनाया गया, और बम्बई के भूतपूर्व कांग्रेसी प्रधान-मंत्री श्री० खेर से उत्तरदायी शासन का उद्घाटन कराया गया। विधान, शासन में जनता का पूर्ण अधिकार स्वीकार करता है, उसमें बालिग मताधिकार की, और सरकार के व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई होने की व्यवस्था है। विधान सम्बन्धी किसी विषय की व्याख्या के सम्बन्ध में मतभेद उपस्थित होने पर उसका निर्णय हाई-कोर्ट करेगा और वह निर्णय अन्तिम माना जायगा।

विधान के अनुसार राजा साहब जनता के प्रथम सेवक हैं। उनके तीन मंत्री हैं। ये व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई होते हैं। व्यवस्थापक सभा द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव आने पर मंत्री अपना पद छोड़ देंगे।

व्यवस्थापक सभा—व्यवस्थापक सभा में १५ सदस्य हैं। पाँच ताल्लुका-समितियों के सभापति अपने पद के कारण इस सभा के सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक ताल्लुका-समिति व्यवस्थापक सभा की सदस्यता के लिए दो अन्य व्यक्ति चुनती हैं; इन दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति समिति के बाहर का भी हो सकता है। किसी ताल्लुका-समिति का सभापति वह व्यक्ति होता है, जिसे उस समिति के सदस्य निर्वाचित करें। और, ताल्लुका-समिति के सदस्य वे व्यक्ति होते हैं, जो उस ताल्लुके के गाँवों और कस्बों की पंचायतों के सभापति हों। पंचायतों के सदस्यों के निर्वाचन के लिए प्रत्येक बालिग पुरुष स्त्री को मताधिकार है।

इस से यह स्पष्ट है कि शासनयंत्र का आधार पंचायतें हैं। ताल्लुका-समिति के सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष है और व्यवस्थापक सभा का तो और भी परोक्ष।*

सब बिल सभा में उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा पास किये जायेंगे, श्रीमन्त राजा साहब की स्वीकृति मिलने के बाद वे कानून माने जायेंगे। यदि राजा साहब व्यवस्थापक सभा द्वारा पास किये हुए किसी बिल पर अपनी स्वीकृति देना न चाहें तो वह उसको अपने 'सन्देश' के साथ व्यवस्थापका सभा के पास पुनर्विचार के लिए भेजेंगे। यदि व्यवस्थापक सभा उनकी सिफारिशों को स्वीकार कर लेती है तो बिल उस रूप में कानून बन जायगा। परन्तु यदि वह अस्वीकार कर देती है तो राजा साहब उसको अगले अधिवेशन के लिए स्थगित कर देंगे और यदि इस प्रकार उक्त सिफारिशें तीन बार व्यवस्थापक सभा के बहुमत से अस्वीकृत हो जाती है तो फिर वह बिल अपने आरम्भिक रूप में ही स्वीकृत होकर

* आशा है, इसमें यथेष्ट संशोधन किया जायगा और प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति का ही व्यवहार होगा।

कानून माना जायेगा ।

बजट—हर वर्ष बजट व्यवस्थापक सभा के सामने रखा जायगा, उसमें यह ब्योरा रहेगा—(क) राज्य की कुल आय की आधी रकम सारे शासन के ऊपर होने वाले व्यय (जिसमें राजा साहब का निजू खर्च व पेन्शनें भी सम्मिलित होंगी) के मद्दे खर्च की जायगी । (ख) और आय की दूसरी आधी रकम पचायतों और ताल्लुका समितियों को वहाँ से होनेवाली आमदनी के अनुपात से लौटा दी जायेगी ।

श्री राजा साहब पहले अपने लिए ६० हजार रुपये वार्षिक लेते थे, पीछे उन्होंने स्वयं ही उसे कम करके केवल ३६ हजार रुपये लेना स्वीकार कर लिया । अब व्यवस्थापक सभा इस मद पर अपना मत दे सकती है, और चाहे तो इसे घटा भी सकती है ।

न्याय—विधान में कहा गया है कि राज्य में न्याय सस्ता होगा और जल्दी मिला करेगा । फौजदारी और दीवानी के आरम्भिक मामले पंचायतों द्वारा तय होंगे, और दूसरे मामलों और उनकी अपीलों का निर्णय हाईकोर्ट द्वारा होगा । हाईकोर्ट द्वारा निर्धारित नियमों के अधीन कानूनी सलाह राज्य की ओर से, बिना कोई खर्च उठाये, मुफ्त मिलेगी ।

पंचायती फैसले के लिए कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता, जिस समय पंचायत मुकदमों का फैसला करती है, उस समय उसे न्याय-सभा कहा जाता है । न्याय-सभा को तीसरे दर्जे के मजिस्ट्रेटके अधिकार होते हैं । वह ५००) तक के दीवानी के मुकदमों का फैसला कर सकती है । किन्तु राज्य के सब-जज की अध्यक्षता में उसे दीवानी मुकदमों में दूसरे दर्जे के सबार्डिनेट जज के, और फौजदारी मामलों में अव्वल दर्जे के मजिस्ट्रेट के अधिकार होते हैं । किसी भी आदमी को राज्य की ओर से नियुक्त वकीलों की राय मुफ़्त मिल सकती है, उसे इसके लिए कोई

फीस नहीं देनी पड़ती। सब-जज दौरा भी करता है; दौरे में वह लोगों के पथ-प्रदर्शक का काम करता है। राज्य में सब से ऊँचा न्यायालय सरन्यायाधीश (चीफ़ जज) का है, जिसे नीचे के न्यायालयों की अपील सुनने तथा उनके निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार है।

स्थानीय शासन—औंध के विधान का आधार ग्राम-लोकतंत्र है। गांवों का शासनप्रबंध ग्राम-पंचायतें करती हैं। पंचायत में पांच सदस्य होते हैं। ये बालिग मताधिकार के आधार पर तीन वर्ष के लिए चुने हुए जाते हैं। पंचायतें अपना सभापति (सरपंच) खुद चुनती है। अगर पंच सर्वसम्मति से सरपंच का चुनाव न कर सकें तो गाँव के सब बालिग आदमी सरपंच को चुनते हैं। कई गाँवों के अथवा किसी ताल्लुके के नगरों के चुने हुए अध्यक्षों की एक ताल्लुका-समिति होती है। यह ताल्लुके की मालगुज़ारी वसूल करती है, उसमें से आधी इसे स्थानीय कार्यों के लिए मिल जाती है। समिति इस रकम को पंचायतों के द्वारा शिक्षा, जनहित, न्याय, जल-व्यवस्था, सफाई, सड़क, चरागाह, मेलों के प्रबन्ध, बुनियादी शिक्षा, और ग्राम-सुधार आदि के लिए खर्च कर सकती है।

शिक्षा—विधान में कहा गया था कि जल्दी ही राज्य की ओर से सब के लिए अनिवार्य और यथासम्भव स्वावलम्बी बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। उच्च शिक्षा का प्रबन्ध उसी हद तक होगा, जितनी कि औंध की जनता की सेवा करने के अवसरों के लिए उम्मेद-वार तैयारी करने को आवश्यक समझी जायेगी। इसके अतिरिक्त बालिगों की निरक्षरता मिटाने के लिए साधन जुटाने की व्यवस्था सरकार करेगी, ताकि वह एक वर्ष में ही शिक्षितों को परीक्षा में सफल होने के योग्य हो सकें। इस उद्देश्य के अनुसार राज्य में बहुत कार्य हो चुका है, और होता जा रहा है।

नागरिक अधिकार—औंध के विधान में नागरिक अधिकारों का

स्पष्ट समावेश है। उसमें कहा गया है कि अहिन्सा और लौकनैतिकता के सिद्धान्तों के अधीन यह विधान औंध के हर एक नागरिक को व्यक्ति की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, सभा और भाषण की स्वतंत्रता, पूजा उपासना की स्वतंत्रता, जन्म, लिंग, जाति, धर्म, रंग या आर्थिक स्थिति के कारण हर प्रकार की अयोग्यता से स्वतंत्रता, कानून की दृष्टि में सबके साथ पूर्ण समानता, सस्ता और जल्दी न्याय, सब के लिए मुफ्त अनिवार्य बुनियादी शिक्षा, बालिग-मताधिकार के आधार पर राय देने का सब के लिए समान अधिकार, और जीवन के लिए आवश्यक कम से कम मजदूरी पर काम करने के अधिकार की गारण्टी की जाती है।

विशेष वक्तव्य; भावी कार्यक्रम—औंध राज्य अंगरेज़ों की पराधीनता में रहते हुए भी प्रजातन्त्रवाद अपनाने में बहुत आगे रहा है। १५ अगस्त १९४७ के स्वाधीनता दिन के लिए उसने बहुत सराहनीय घोषणा की। उसमें कहा गया—(१) प्राणों की आहुतियां देकर भी हम पराये आक्रमण से हिन्दुस्तान की भरसक रक्षा करेंगे। (२) साम्प्रदायिकता हटाई जायगी। (३) समाज में किसी श्रेणी को नीच नहीं समझा जायगा (४) राष्ट्रनेताओं के आदेशों को पूरा करने की कोशिश करेंगे। (५) हम सब एक होकर खुद साक्षरता-प्रसार में जुटेंगे। (६) खेती में उन्नति करके गाँव को स्वावलम्बी बनाया जायगा। (७) आगामी पीढ़ी को राजकाज चलाने योग्य बनाने की दृष्टि से विद्यार्थियों को आवश्यक शिक्षा दी जायगी। (८) देहातों की रक्षा के लिए १४ से ४५ वर्ष तक के सब नागरिकों का 'गाँव संरक्षक दल' तैयार करेंगे और उन्हें हथियारों की सहायता देंगे। (९) न्याय-कार्य पंचायतों को देकर गाँवों में एकता रखेंगे। (१०) कारखानों में ज्यादह-से-ज्यादह सामान तैयार करेंगे और मज़दूरों को सम्पत्ति का योग्य हिस्सा देंगे। (११) सब व्यवहार सत्य और नीति से चलाएँगे।

(१२) शील, शिक्षा, स्वावलम्बन, अनुशासन, संयम और सहकारिता हमारे सिद्धांत होंगे; हम अपने कार्य से राष्ट्र की कीर्ति बढ़ायेंगे।

औंध जैसे छोटे से राज्य ने कैसा प्रशंसनीय कदम उठाया है! हमारे दूसरे राजा भी इसका अनुकरण करें।

सांगली

बम्बई प्रान्त के राज्यों में सांगली में भी शासन व्यवस्था सम्बन्धी बहुत अच्छा कार्य हुआ है। इस प्रान्त में, कोल्हापुर को छोड़कर शेष राज्यों में यह सब से बड़ा है, वैसे यह छोटा सा ही है। इसका क्षेत्रफल ११४६ वर्गमील, आबादी लगभग तीन लाख और सालाना औसत आमदनी बीस लाख रुपए है।

यहाँ के राजा साहिब ने सन् १९४१ में एक महत्वपूर्ण घोषणा करके शासन में सुधारों का सूत्रपात किया था और १९४५ की जनवरी में राज्य की धारा सभा के चुने हुए सदस्यों में से दो को मन्त्री बनाया था, जिनके सुपुर्द राज्य के कुछ महकमे कर दिये थे। ५ अक्तूबर १९४६ को एक महत्त्वपूर्ण घोषणा करते हुए श्रीमन्त सांगली नरेश ने कहा—

"ब्रिटिश भारत में जो महान् परिवर्तन हो रहे हैं, उन्हें तथा मैंने इससे पहले जो सुधार दिये हैं उनको जिस सचाई, सहिष्णुता और शान्ति के साथ अमल में लाया गया, उन्हें ध्यान में रखते हुए मैं मानता हूँ कि, अब वह समय आ गया है जब कि मैं अपने प्रजाजनों को, वैदेशिक और राजनीतिक सम्बन्ध, इनाम और सरंजाम, राज-परिवार सम्बन्धी व्यक्तिगत बातें और राजवंश के देवस्थान वगैरा को छोड़कर, तमाम विषय देकर, उन्हें संपूर्ण उत्तरदाई शासन सौंप दूँ।

"मताधिकारी और चुनाव सम्बन्धी नियमों के सहित राज्य के लिए नये शासन विधान बनाने का काम एक विधान समिति करेगी। मैं इस समिति की नियुक्ति अपने नये मंत्रिमंडल की सलाह से करूँगा। पर इस कमिटी के काम में काफी समय लग जायगा। तब तक शासन में

कोई प्रगति न हो और यों ही समय बीत जाय, यह मैं ठीक नहीं समझता। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि इस बीच तात्कालिक व्यवस्था के बतौर मैं अपने प्रजाजनों को आज ही अधिक-से-अधिक मात्रा में उत्तरदाई शासन दे दूँ। इस तात्कालिक व्यवस्था में भी सांगली के वर्त्तमान शासन-विधान में काफी परिवर्तन हो जायगा। तदनुसार आज मैं सांगली शासन सुधार कानून नं० ३ की घोषणा करता हूँ, जिसके मातहत—

क—राज्य की धारा-सभा में जो सरकारी अफसर नामजद किये गये थे, वे अब धारा-सभा के सदस्य नहीं रहेंगे।

ख—ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में सन् १९३५ के विधान के मातहत जो महकमे मंत्रियों के मातहत हैं, वे सांगली में भी मंत्रियों के मातहत होंगे, और ये मन्त्री धारा-सभा के द्वारा हटाये जा सकेंगे।

ग—धारा-सभा के सभापति और उपसभापति चुने हुए होंगे।"

घोषणा के अन्त में श्रीमंत सांगली नरेश ने कहा कि "मुझे अपने प्रजाजनों में पूर्ण विश्वास है और यह विश्वास है कि आज मैं यह जो उत्तरदाई शासन की घोषणा करता हूँ इसका संचालन न्याय, सहिष्णुता और शान्ति के साथ होगा।"

कहना नहीं होगा कि सांगली का शासन ऊपर सूचित की हुई भावना के अनुसार प्रगतिशील रहा है। हाँ, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह राज्य भारतीय संघ की एक अलग इकाई बनने की दृष्टि से बहुत छोटा है।

— — —

उन्तीसवाँ अध्याय

दक्षिण के राज्य

[मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन]

दक्षिण के देशी राज्यों में से अधिकांश अपने यहाँ प्रजातंत्रात्मक सुधारों को प्रचलित करने में उत्तर या पश्चिम के देशी राज्यों की अपेक्षा आगे बढ़े हुए हैं। —एच० जी० तिलक

साधारणतया हैदराबाद भी दक्षिण के ही राज्यों में गिना जाता है, परन्तु वह एक बड़ा और प्रमुख राज्य है। राजनीतिक दृष्टि से भी उसका अलग और स्वतंत्र स्थान है। इसलिए उसके सम्बन्ध में हमने एक अलग अध्याय में, लिख दिया है। बम्बई प्रान्त के राज्यों के बारे में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। अब दक्षिण के जिन राज्यों के बारे विचार करना है, उनमें से मुख्य मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन हैं।

दक्षिण के राज्यों की विशेषता—इन राज्यों में से कोचीन तो उत्तरदाई शासन पद्धति प्रचलित करने में भारतवर्ष के सब बड़े बड़े राज्यों में अग्रगामी है।* उसके अलावा मैसूर और त्रावणकोर आदि का भी शासन अन्य भारतीय राज्यों की अपेक्षा उत्तम है। कुछ समय हुआ, स्व० श्री० सत्यमूर्ति जी ने लिखा था—'इन राज्यों में सुव्यवस्थित और स्वतन्त्र हाईकोर्ट और चीफ-कोर्ट स्थापित हैं। इनमें जो न्यायाधीश हैं, वे हटाये नहीं जा सकते, और विशेषतः वे जो अपने आपको स्वतन्त्र और ईमानदार सिद्ध कर चुके हैं। इन राज्यों के शासकों का शाही खर्च

*वैसे औंध सब के पहला राज्य है, जिसने उत्तरदाई शासनपद्धति प्रचलित की; पर वह बहुत छोटा राज्य है।

('प्रिवी पर्स') निश्चित है। इनमें धारा सभाएँ हैं, जिनमें निर्वाचित सदस्य बैठते हैं। अन्य नरेशों के विषय में जो बदनाम करनेवाली बातें उड़ती हैं, वे दक्षिण भारतीय नरेशों के विषय में स्वप्न में भी सुनायी नहीं देतीं। एकाध अपवाद को छोड़कर इन राज्यों के शासक चरित्र-वान और योग्य व्यक्ति हैं। इनका पैसा व्यर्थ के तमाशों में या योरप की सैर में कदाचित ही खर्च होता है। जनता इनके पास आसानी से पहुँच सकती है। इन राज्यों के प्रबन्धक उत्साह और लगन पूर्वक कृषि, व्यवसाय के विकास उद्योग में लगे हुए हैं। इन सब बातों से मेरा मतलब यह है कि इन राज्यों की प्रजा सुशासित है। इतने पर भी मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि इन राज्यों के शासन का अन्तिम आधार स्वेच्छाचार है। मेरा दावा केवल इतना है कि वह एक सहानुभूति-पूर्ण स्वेच्छाचार है। इसके साथ ही साथ वहाँ पर काफी दमन भी होता है। प्रकाशन की स्वतन्त्रता कम है।'

मैसूर

इस राज्य का क्षेत्रफल २६,४५८ वर्गमील, आबादी (१६४१ की गणना के अनुसार) तिहत्तर लाख और सालाना औसत आमदनी दस करोड़ रुपए है। यहाँ शासन-कार्य आधुनिक पद्धति से किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के महत्वपूर्ण कार्यों के लिए अलग-अलग विभागों की व्यवस्था है, और उनके संचालन के लिए यथेष्ट अधिकारी नियत हैं। शासन-पद्धति प्रायः वही है, जो सन् १८३१ से १८८१ तक के पचास वर्षों में प्रचलित थी, जब कि यह राज्य अंगरेजी अमलदारी में रहा था। इतने दीर्घकाल तक व्यवस्थित ढंग से शासन होते रहने से यहाँ उसके स्वरूप में नवीनता का समुचित समावेश हो गया है।

शासन-सुधार और भारत-सरकार—यहाँ प्रतिनिधि-सभा (रेप्रेजेंटेटिव असेम्बली) की स्थापना सन् १८८१ में हुई। इसका उद्देश्य यह था कि राज्य के कामों में, और जनता की इच्छाओं तथा हितों में

अधिक अनुरूपता अथवा मेल हो। सन् १९०७ में यहाँ व्यवस्थापक परिषद् स्थापित की गयी, 'जिससे कानून बनाने में उन गैर-सरकारी सज्जनों का सहयोग मिले, जो क्रियात्मक अनुभव और स्थानीय परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं का ज्ञान रखने के कारण इस कार्य के लिए योग्य हों।' यहां यह जिक्र करना आवश्यक है कि उस समय की भारत-सरकार का इस विषय में अच्छा रुख नहीं था। उसने मैसूर राज्य के सुधारों का जी खोलकर स्वागत नहीं किया था। सन् १९२३ में शासन-सुधार के प्रश्न पर एक कमेटी द्वारा फिर विचार हुआ। इस कमेटी के अध्यक्ष सर बृजेन्द्रानाथ सील थे। इसकी सिफारिशों से कई महत्वपूर्ण सुधार किये गये। मैसूर की संधि के अनुसार, इन सुधारों पर भारत-सरकार की स्वीकृति ली गयी थी।

शासन प्रबन्ध—इस समय (मई १९४७) राज्य की प्रबन्ध-कारिणी में दीवान सहित पाँच मंत्री है। दो सरकारी और तीन गैर-सरकारी। गैर-सरकारी मंत्री को किसी विभाग का काम संभालने के अयोग्य नहीं ठहराया जाता, इस प्रकार उनके तथा सरकारी मंत्रियों के काम में कोई विभाजन-रेखा नहीं है। नामजद और निर्वाचित मंत्रियों में कोई अन्तर नहीं माना जाता। परन्तु यद्यपि गैर-सरकारी मंत्री व्यवस्थापक मंडल के सदस्य हैं, पर राजा द्वारा नामज़द हैं, और उन्हीं के प्रति उत्तरदायी हैं। इन मंत्रियों में कोई भी मन्त्री व्यवस्थापक सभाओं की सबसे बड़ी पार्टी स्टेट-काँग्रेस का प्रतिनिधि नहीं है।

व्यवस्थापक मंडल—राज्य में कानून निर्माण से सम्बन्ध रखने-वाली दो सभाएँ हैं—(१) प्रतिनिधि-सभा ('रेप्रेजेन्टेटिव असेम्बली') और व्यवस्थापक परिषद (लेजिस्लेटिव कौंसिल)। दोनों की अवधि चार-चार वर्ष की है। प्रतिनिधि सभा में ३१२ सदस्य हैं। इसे कानूनी मसविदों पर परामर्श देने का अधिकार है। किसी मसविदे के सिद्धांत का इस सभा के कुल सदस्यों में से दो-तिहाई भी विरोध करें तो भी

सरकार के लिए इस सभा का निर्णय मान्य करना अनिवार्य नहीं है। जिस कानूनी मसविदे को यह पास कर दे, वह व्यवस्थापक परिषद में उपस्थित किया जा सकता है। जब वह मसविदा अन्ततः परिषद में स्वीकार हो जाय तो उसे प्रतिनिधि-सभा के सामने रखना आवश्यक नहीं होता। वह सभा की सम्मति को सूचित करनेवाले वक्तव्य सहित महाराज की स्वीकृति के लिए उपस्थित किया जाता है। आकस्मिक आवश्यकता होने पर, इस सभा के परामर्श बिना ही दो बार छः-छः माह के लिए कानून बनाये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतिनिधि-सभा का कानून निर्माण में जोभाग है, वह बहुत परिमित है।

व्यवस्थापक परिषद में ६८ सदस्य हैं—४४ निर्वाचित, और शेष नामज़द। इसका सभापति अब परिषद द्वारा चुना हुआ गैर-सरकारी व्यक्ति होता है। हाँ, इसमें यह शर्त होती है कि महाराज उसे स्वीकार करलें। उपसभापति भी निर्वाचित किन्तु महाराज द्वारा स्वीकृत होता है। परिषद के कुल सदस्यों में कम-से-कम दो-तिहाई द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव होने पर सभापति तथा उपसभापति अपने पद से पृथक् हो जाते हैं। व्यवस्थापक परिषद में एक-तिहाई से अधिक सदस्यों का नामजद होना मैसूर जैसे उन्नत राज्य में बहुत चिन्तनीय है।

मैसूर राज्य की दोनों व्यवस्थापक सभाओं में कांग्रेस पार्टी सब में बड़ी पार्टी है। व्यवस्थापक परिषद के चुने हुए ४४ सदस्यों में, जिनमें दस विशेष हितों के भी स्थान हैं, २० सदस्य कांग्रेस के हैं। और, प्रतिनिधि सभा के ३१२ सदस्यों में, जिनमें नामजद सदस्य भी हैं, अकेली कांग्रेस पार्टी के ही सदस्य १४० हैं।

शिक्षा आदि—म्युनिसपेलटियाँ और जिला-बोर्ड अच्छा काम कर रहे हैं। पंचायतों का यहाँ खूब प्रचार है। शिक्षा की दृष्टि से, सन् १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार मैसूर ब्रिटिश भारत से

कुछ ही कम है।† देशी राज्यों में सबसे प्रथम स्थापित विश्वविद्यालय मैसूर का ही है। यह १९१६ में स्थापित हुआ। इसमें राज्य की मातृ-भाषा के अध्ययन तथा साहित्य-निर्माण की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है। राज्य में प्रायः हाई स्कूल से नीचे की शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य है। कृषि, व्यापार, इञ्जिनयरी, डाक्टरी तथा औद्योगिक विषयों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध है। कुल मिलाकर राज्य की आय का लगभग छठा भाग शिक्षा-प्रचार में खर्च किया जाता है।

नागरिक अधिकार—यहां पूर्व प्रथा तोड़कर मुसलमानों और ईसाइयों के लिए पृथक् निर्वाचक सघों की स्थापना की गयी है। सरकार ने यह आशा की है कि इससे साधारण नागरिक भावना की वृद्धि में बाधा न होगी। ब्रिटिश भारत में गत वर्षों में जो कटु अनुभव हुआ है, उसका विचार करते हुए उपर्युक्त आशा दुराशा मात्र है। शासन-सुधार कमेटी की सिफारिश होने पर भी, नवीन शासन विधान में नागरिक अधिकारों का निर्देश नहीं किया।

विशेष वक्तव्य—मैसूर स्टेट-कांग्रेस के अध्यक्ष श्री० के० सी० रेडी के शब्दों में इस समय (मई, सन् १९४७) राज्य की शासन प्रणाली दूषित है और साम्प्रदायिक समस्या के बहाने राज्य भर में नागरिक स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध है। सरकार स्थानीय संस्थाओं के कार्य में दखल देती है, और जिला-बोर्डों में अनेक-मत प्रणाली चालू कर दी गयी है। इसी लिए स्टेट-कांग्रेस तत्काल उत्तरदाई शासन की मांग कर रही है।

त्रावणकोर

यह राज्य भारतवर्ष के ठेठ दक्षिण में, पश्चिम की ओर है। इसका क्षेत्रफल ७६२५ वर्गमील और जनसंख्या ६१ लाख (सन् १९४१ में), तथा औसत वार्षिक आय पांच करोड़ रुपए है। राजधानी त्रिवेन्द्रम

† ब्रिटिश भारत में फी हजार १२५ स्त्री-पुरुष शिक्षित हैं, मैसूर राज्य में १२१।

है। यहाँ का राजा उन क्षत्रियों में से है, जो अपने आपको दक्षिण भारत के प्राचीन चेरा राजवंश के मानते हैं। राजा मालावार के रिवाज * के अनुसार राजघराने की लड़की या बहिन के बड़े पुत्र को गद्दी दे सकता है।

एक उन्नत राज्य—'आधी सदी से अधिक समय हो गया, जब से यहाँ के शासक राज्य की आय को सार्वजनिक कोष की तरह समझते हैं, और अपने निजी व्यय के लिए अपेक्षाकृत बहुत कम रकम लेते हैं और उसे बजट में सूचित करते हैं।'

शिक्षा की दृष्टि से यह राज्य देश भर में बढ़ा हुआ है। छुआछूत को इसने कानून द्वारा बन्द कर रखा है, और मंदिरों को हरिजनों के लिए खोल दिया है। औद्योगिक दृष्टि से भी यह बहुत उन्नत है। स्त्रियों को यहाँ पुरुषों के समान अधिकार रहे हैं। गत वर्ष (१९४६) इसने राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रगति का परिचय दिया है। इस राज्य का एक अपना बन्दरगाह है, उससे इसे आयात-निर्यात-कर की अच्छी आय होती है।

शासन-प्रबन्ध—प्रस्तावित योजना के अनुसार राज्य का शासन राजा से नियुक्त किये हुए दीवान द्वारा किया जायगा। दीवान की सहायता के लिए कई मंत्री, विभागों के अध्यक्ष तथा अन्य अधिकारी होंगे, जो कुछ अंशों में पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा चुने जायेंगे। कोई सरकारी अफसर किसी धारासभा का सदस्य नहीं होगा। पर वह धारासभा के विचार-विनिमय में सहयोग देगा। प्रश्नों का उत्तर तथा दूसरी जानकारी देने के लिए उसकी वहा उपस्थिति आवश्यक हो सकती है। उसे मत देने का अधिकार नहीं होगा। धारासभा के मत से दीवान या कार्यकारिणी सरकार का कोई सदस्य नहीं हटाया सकेगा। धारासभा के तथा

*इस रिवाज के अनुसार घर की जायदाद का अधिकारी मालिक का बड़ा लड़का नहीं होता, मालिक की बहिन या लड़की का पुत्र होता है।

न्याय-विभागो के सम्बन्ध में दीवान की स्थिति अमरीकी प्रेजीडेण्ट के तुल्य होगी। हां, महाराजा के अधिकारों द्वारा वह अवश्य नियन्त्रित रहेगा।

व्यवस्थापक मंडल—राज्य में दो धारा सभाएँ रहेंगी; उनके सभी सदस्य चुने हुए होंगे। दोनों सभाएँ—श्री चित्रा राज्य परिषद और श्री मूलम लोक सभा अपने अलग-अलग नियम बनायेंगी, तथा अपने अलग अध्यक्ष उपाध्यक्ष निर्वाचित करेंगी। कौंसिल में कम से कम ५२ सदस्य होंगे, जिनका चुनाव विभिन्न संस्थाओं तथा पेशों की विशेषताओं के आधार पर होगा। असेम्बली के सदस्य विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे। कम-से-कम १५००० जनसंख्या पर एक सदस्य होगा, तथा २५००० जनसंख्या पर एक से अधिक सदस्य होगा। असेम्बली के लिए सदस्यों का चुनाव बिना किसी जाति, श्रणी, तथा पुरुष-स्त्री के भेद-भाव के, बालिग मताधिकार के आधार पर होगा। मत देने का अधिकार रियासत-निवासियों को ही होगा, जो रियासत में चुनाव से कम-से-कम सात वर्ष पहिले से रह रहे हैं। कौंसिल के लिए मत देने का अधिकार ३० वर्ष तथा असेम्बली के लिए २२ वर्ष के व्यक्ति को दया जायेगा।

धारासभाएँ चुनाव के बाद चार वर्ष तक कार्य करेंगी। दीवान को अधिकार होगा कि स्थिति को देखते हुए वह किसी भी धारासभा को उसकी अवधि समाप्त होने से पहिले भंग करे या उसकी अवधि अधिक-से-अधिक एक वर्ष और बढ़ा सके। दीवान को दोनों सभाओं में भाषण देने, तथा किसी प्रस्तुत बिल अथवा विचाराधीन प्रश्न के सम्बन्ध में सन्देश भेजने का अधिकार होगा। बिल दोनों सभाओं में रखे जा सकेंगे। बिल पर विचार करने के लिए दोनों सभाओं में स्थायी समितियां नियुक्त की जायँगी।

राज-परिवार, रियासत की सेना, हिन्दू धार्मिक दान, रियासती

सरकार का भारत सरकार तथा विदेशी नरेशों या रियासतों से सम्बन्ध, तथा सुधार कानून की धाराओं और नियमों पर धारा सभाओं को न तो विचार करने का और न ही उनके सम्बन्ध में कोई कानून बनाने का अधिकार होगा।

दोनों धारासभाओं के समान अधिकार और कार्य होंगे। वे अपनी उप-समितियों द्वारा राज्य की नोति और शासन पर नियन्त्रण रखेंगी। दोनों सभाओं का संयुक्त निर्णय सरकार द्वारा कार्यान्वित किया जायगा।

जो बिल धारा सभाओं में पेश होनेवाला होगा, उस पर दीवान को यह नोट देने का अधिकार होगा कि उससे रियासत की शांति किसी प्रकार भंग तो नहीं होती। शांति-भंग की आशंका वाले बिल पर विचार करने की कार्रवाई दीवान रोक सकेगा।

महाराजा को कानून बनाने तथा आवश्यक कार्रवाई करने के अधिकार बने रहेंगे।

न्याय—न्याय-विभाग प्रबन्ध-विभाग से पृथक् है। राज्य में एक हाईकोर्ट के अतिरिक्त कई जिला-कोर्ट, सेशन कोर्ट, मुन्सिफ कोर्ट तथा अनेक पंचायती अदालते हैं। सन् १९४६ की घोषणा में कहा गया है कि दीवानी तथा फौजदारी अदालत महाराजा द्वारा नियुक्त होगी तथा निचली अदालतें कार्यकारिणी (सरका)र द्वारा, हाईकोर्ट की सलाह से नियुक्त होंगी। धारासभा द्वारा पास किये गये कानूनों के वैधानिक पहलू पर अदालत निर्णय कर सकती है।

शिक्षा आदि—यहां शिक्षा का प्रचार भारतवर्ष भर के किसी भी भाग से अधिक है, ४८ प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित हैं।* राज्य भर में प्रारम्भिक शिक्षा निश्शुल्क और अनिवार्य है। स्त्री-शिक्षा का खूब प्रचार है। यहाँ दस से अधिक कालिज और बहुत से हाई स्कूल आदि हैं। पहले यहाँ की शिक्षा-संस्थाएँ मदरास विश्वविद्यालय के अधीन थीं।

* कोचीन में, जो कि इससे दूसरे दर्जे पर है, यह संख्या ३५ है।

सन् १६३७ ई० में यहाँ स्वतंत्र विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। पाठ्यक्रम में, आधुनिक भाषाओं में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का भीसमावेश है। कला और उद्योग तथा प्रयोगात्मक विज्ञान की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाता है। कानून, आयुर्वेद, वनस्पति-शास्त्र और कृषि आदि के भी विद्यालय हैं। स्वास्थ्य और चिकित्सा की अच्छी व्यवस्था है। राज्य का अपना स्वयं का डाक-विभाग तथा टकसाल-विभाग है।

सन् १६४५ में त्रावणकोर सरकार ने राज्य में अपनी दस वर्षीय अनिवार्य और निश्शुल्क प्रारम्भिक-शिक्षा-योजना अमल में लाने की घोषणा की। उसने स्वीकार किया है कि प्रारम्भिक शिक्षा का दायित्व सरकार पर है।

नागरिक अधिकार—यह खेद का विषय है कि इतना उन्नत और शिक्षित राज्य भी जनता के अधिकारों के विषय में यथेष्ट उदार नहीं रहा है। यहाँ कई वर्ष से त्रावणकोर-स्टेट-कांग्रेस स्थापित है। उसका उद्देश्य महाराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है। पर उसके रचनात्मक कार्य—खादी-प्रचार, हरिजन-उत्थान, मद्य-पान-निषेध और हिन्दी-प्रचार—पर भी राज्य की ओर से समय-समय पर प्रतिबन्ध रहा है। स्टेट-कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं को दमन, गिरफ़्तारी, जेल आदि की सख्तियां सहनी पड़ी हैं। यहां प्रेस और समाचारपत्रों पर कड़ी पाबन्दियाँ रही हैं।

विशेष वक्तव्य—त्रावणकोर के वैधानिक सुधारों की योजना की कई बातें स्वागत-योग्य होते हुए भी, उसमें यह दोष है कि समस्त शक्ति का मूल श्रोत जनता को नहीं माना गया। दीवान महाराजा द्वारा नियुक्त होगा, और धारा सभा का उस पर अविश्वास होने पर भी अपने पद से नहीं हटाया जा सकेगा। यही बात सरकार के अन्य सदस्यों पर भी लागू होगी। दीवान के अधिकार भी बहुत अधिक है। निश्चय ही यह योजना जनता को उत्तरदाई शासन नहीं देती।

त्रावणकोर ने भारतीय संघ में शामिल होने में बहुत ढील की। पहले तो उसने स्वतंत्र रहने की ही घोषणा कर दी थी, पर आखिर में 'दिन भर का भूला शामको घर आया' कहावत हुई। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

कोचीन

इस राज्य का क्षेत्रफल १४९३ वर्गमील, जनसंख्या सन् १९४१ ई० की गणना के अनुसार सवा चौदह लाख, और वार्षिक औसत आय डेढ़ करोड़ रुपए है।

इस राज्य का शासन बहुत समय से प्रगतिशील रहा है। अब से पैंतीस वर्ष पहिले सन् १९१२ में यहाँ के दीवान साहब सर ए० आर० बेनर्जी ने एक सलाहकार समिति (एडविजरी कौंसिल) की योजना उपस्थित की थी, जिसमें लगभग दो-तिहाई सदस्य निर्वाचित हों, और शेष नामज़द।

शासन-प्रबन्ध; उत्तरदाई शासन की घोषणा—शासन-कार्य के लिए राज्य छः ताल्लुकों में बँटा हुआ है। राजधानी एरनाक्यूलम है। सब शासन-कार्य महाराजा साहब के नाम से उनके नियंत्रण में होता है। उनका प्रधानमंत्री दीवान है। सन् १९४६ तक उसकी नियुक्ति महाराजा साहब द्वारा होती थी, और वह उनके आदेशानुसार कार्य करता था। कार्यकारिणी में दीवान के अतिरिक्त एक मंत्री था, जिसे महाराजा साहब व्यवस्थापक परिषद के सदस्यों में से में से चुनते थे। वह अपने कार्य के लिए परिषद के प्रति उत्तरदायी होता था। उसके सुपुर्द प्रायः निम्नलिखित विभाग रहते थे—कृषि, सहकारिता, गृह-उद्योगों की उन्नति, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पंचायतों का प्रबन्ध, और दलितोद्धार। मंत्री के सुपुर्द किये हुए विषय हस्तान्तरित विषय कहलाते थे, और शेष (दीवान के सुपुर्द) विषय, रक्षित। कौन-कौन से विषय हस्तान्तरित हों, इसका निश्चय महाराजा साहब करते थे, और ऐसा करने में

वे आवश्यकतानुसार दीवान से परामर्श करते थे।

अगस्त १९४६ में कोचीन प्रजा मंडल ने खासकर ये मांगे उपस्थित कीं—(१) राज्य में जनता के बालिग मताधिकार के आधार पर पूर्ण उत्तरदाई शासन प्रदान किया जाय और इस सम्बन्ध में विधान बनाने के लिए एक विधान-समिति बनाई जाय, (२) एक अन्तरिम सरकार की स्थापना की जाय और सभी विभाग लोकप्रिय मंत्रियों को सुपुर्द कर दिये जाय। इसपर महाराज ने पहली मांग मंजूर कर के समिति की स्थापना कर दी थी। दूसरी मांग को संशोधन के साथ स्वीकार करके उन्होंने अर्थ, न्याय तथा व्यवस्था विभागों को छोड़ शेष विभाग चार मंत्रियों को बांट दिये थे। इन तीन विभागों का काम दीवान करता था, परन्तु अन्तिम निर्णय मंत्रिमंडल में होते थे। अब शासन का सब कार्य चुने हुए लोकप्रिय मंत्रियों में बँटा हुआ है।

व्यवस्थापक परिषद्—व्यवस्थापक परिषद की स्थापना यहाँ सन् १९२५ हुई थी। अब तक इसका संगठन सन् १९३८ की घोषणा अनुसार था। इसमें ५८ सदस्य थे—३८ निर्वाचित और २० नामज़द। निर्वाचित सदस्यों में २७ साधारण निर्वाचक संघों के और ११ विशेष के होते थे। नामजद सदस्यों में ८ सरकारी और १२ गैर-सरकारी रहते थे। इनके अलावा, किसी प्रस्ताव के समय दो ऐसे व्यक्तियों को महाराजा द्वारा और भी नामज़द किया जा सकता था, जिन्हें उस प्रस्ताव के विषय के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान या अनुभव हो। इन व्यक्तियों को जितने समय के लिए ये नामजद हों, सदस्यों के पूर्ण अधिकार होते थे।

परिषद का सभापति दीवान होता था। उसके सहित कम-से-कम १५ सदस्यों की उपस्थिति में परिषद का कार्य होता था। सभापति की अनुपस्थिति में उसका कार्य उपसभापति (डिप्टी प्रेसीडेन्ट) करता था, जो परिषद द्वारा निर्वाचित होता था। उसका वेतन परिषद निश्चित करती थी। परिषद का कार्यालय आम तौर से तीन वर्ष होता था।

अब नई योजना अमल में आनेवाली है, जिसका उद्देश्य पूर्ण उत्तरदाई शासन है।

न्याय—राज्य में न्याय करनेवाली प्रधान संस्था हाईकोर्ट है। उसमें चीफ-जस्टिस सहित तीन जज हैं, उनकी नियुक्ति महाराज द्वारा होती है। निर्धारित योग्यता वाला व्यक्ति ही जज नियत किया जा सकता है। उसके नीचे दीवानी मामलों का विचार करने के लिए जिला-अदालतें, तथा मुन्सिफों की अदालतें हैं। फौजदारी मुकदमों का फैसला सेशन अदालतों तथा सब-मजिस्ट्रेटों की अदालतों में होता है। पचास रुपये तक की मालियत के मामले ग्राम-पंचायतों द्वारा निपटाये जाते हैं।

शिक्षा—शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से भारतवर्ष भर में, केवल त्रावण-कोर को छोड़कर, यह राज्य सबसे बढ़कर है। यहाँ शिक्षितों की संख्या फी हजार ३५४ है। पाँच वर्ष से लेकर नौ वर्ष तक की आयु के समस्त बालकों में ६० प्रतिशत, प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा पा रहे हैं। प्रारम्भिक शिक्षा देशी भाषाओं के स्कूलों में निश्शुल्क है, परन्तु जिन स्कूलों में अंगरेजी पढ़ायी जाती है, उनमें निश्शुल्क नहीं है। इन स्कूलों में भी आधे से अधिक खर्च राज्य ही करता है। ग्राम-पुस्तकालयों का कार्य खूब चल रहा है। राज्य में कई दैनिक तथा एक दर्जन से अधिक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होते हैं। राज्य की जनसंख्या को देखते हुए पत्र-पत्रिकाओं का यह प्रचार अच्छा है।

विशेष वक्तव्य—महाराजा साहब ने सन् १९३८ में ही शासन-सुधारों का ध्येय उत्तरदाई शासन स्वीकार कर लिया था। अब तो इसे जारी करने के लिए विधान तैयार हो रहा है, और वह जल्दी ही जनता के सामने आ जायगा। अगस्त सन् १९४६ में कोचीन प्रजामंडल ने उत्तरदाई शासन आदि के अलावा यह भी मांग की थी कि भारतीय विधान परिषद में जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि भेजा जाय।

उसके अनुसार कोचीन के लोकप्रिय मंत्री श्री० गोविन्द मेनन विधान-परिषद् में जनता के प्रतितिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए, न कि मंत्री की हैसियत से।

महाराजा साहब ने कहा था—'मैं इगलैंड के बादशाह की तरह एक वैधानिक शासक की हैसियत से पूर्णतया संतुष्ट हूँ क्योंकि मैं ग्लैडस्टन के सिद्धान्तो में विश्वास करने वाला हूँ।' महाराजा ने यह भी कहा कि था हमने प्रसन्नता पूर्वक गद्दी का परित्याग कर दिया होता किन्तु गद्दी छोड़ देने से कोचोन में राजतन्त्र का अन्त नहीं हो जाता, क्योंकि हमारे स्थान पर शासन करने की इच्छा रखनेवालों की सूची बहुत लम्बी है। महाराजा साहब ने अपने व्यवहार से दिखा दिया कि आप वास्तव में लोकसत्तात्मक भावों वाले हैं।

२६ अगस्त १६४७ को, एक बड़े जातीय त्यौहार (ओनम) के दिन, महाराजा साहब ने राज्य में पूर्ण जिम्मेदार सरकार स्थापित करने की घोषणा की। 'गवर्मेंट-आफ-कोचीन एक्ट' नाम का एक्ट जारी किया गया है। उसके अनुसार समस्त शासन-प्रबन्ध एक कौंसिल के सुपुर्द किया गया है, जिसमें प्रधान मंत्री सहित ११ मंत्री होंगे, और वे सब चुने हुए रहेंगे।

तीसवाँ अध्याय

अन्य देशी राज्य

[संयुक्त प्रान्त के राज्य, सिक्कम और भूटान, बंगाल के राज्य, आसाम के राज्य, उड़ीसा के राज्य, मध्यभारत के राज्य]

इस अध्याय में ऐसे देशी राज्यों या उनके समूहों के सम्बन्ध में, संक्षेप में विचार किया जाता है, जिनके विषय में, पिछले अध्यायों में नहीं लिखा गया है। ये प्रायः छोटे-छोटे हैं।

संयुक्तप्रान्त के राज्य—संयुक्तप्रान्त देशी राज्य तीन हैं—टेहरी-गढ़वाल, रामपुर और बनारस। शासन की दृष्टि से टेहरी का सम्बन्ध शिमला पहाड़ी राज्यों से रहा है, और उनके बारे में पहले लिखा जा चुका है। रामपुर की मजलिस (व्यवस्थापक सभा) के संगठन में लोकसत्तात्मक दृष्टि से कई दोष है, और उसके अधिकार भी बहुत परिमित है। यहाँ बहुसख्यक जाति (हिन्दुओं) के नागरिक अधिकारों की उपेक्षा की जाती है। बनारस राज्य ने हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, को जमीन आदि की चाहे जो सहायता दी हो, अपने नागरिकों की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ प्रगतिशीलता का परिचय नहीं दिया। यहां व्यवस्थापक सभा (जिसे प्रजामंडल कहा जाता है) उत्तरदाई शासन के विचार से अनुपयुक्त है। जनता का शासकों से शासनसुधार, और नागरिक अधिकारों के लिए काफी संघर्ष रहा है। इस समय भी स्थिति संतोषजनक नहीं है।

सिक्कम और भूटान—ये दोनों राज्य बंगाल के उत्तर में हैं। यहां से तिब्बत को सीधा रास्ता जाता है। इस लिए इनका राजनीतिक महत्व बहुत है। ये भारत-सरकार से अलग-अलग सम्बन्धित रहे हैं। इन राज्यों का भारतवर्ष के अन्य भागों से सम्पर्क बहुत कम हैं। भूटान में अंगरेजी ढग की शिक्षा सन् १९१४ में आरम्भ हुई, और १९१४ में जाकर कुछ विद्यार्थियों ने प्रथम बार मेट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास की। यहां का शासन अप्रगतिशील होना स्वाभाविक ही है। भूटान को कुछ लोग नेपाल की तरह स्वतंत्र समझते हैं; परन्तु दोनों की स्थिति में बहुत अन्तर है। नेपाल स्वतंत्र प्रदेश है, और भूटान भारत के देशी राज्यों में है। हां, भूटान (और सिक्कम) का सम्बन्ध भारत-सरकार के राजनीतिक विभाग से न रह कर वैदेशिक विभाग से रहा है।

'**बंगाल के राज्य**—बंगाल प्रान्त में देशी राज्य दो हैं—कूच-विहार और त्रिपुरा। त्रिपुरा में प्रबन्धकारिणी कौंसिल बहुत समय से,

सन् १८८३ से है। व्यवस्थापक परिषद् का संगठन प्रथम बार सन् १९०६ में हुआ था, जिसमें पीछे सुधार हुआ। तथापि उत्तरदाई शासनपद्धति अभी तक प्रचलित नहीं की गयी। हां, महाराजा का निजी व्यय निर्धारित है, दुर्भिक्ष-निवारण के लिए अलग रकम सुरक्षित रखी जाती है और उद्योग धंधों की उन्नति की ओर ध्यान दिया जाता है।

त्रिपुरा राज्य में शासन एकतंत्री और अनियंत्रित है। राजप्रबन्ध के लिए एक मंत्री और तीन नायब-दीवान हैं। सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार बहुत कम है, और नागरिक अधिकारों का प्रायः अभाव ही है। 'त्रिपुरा राज्य-गण-परिषद्' जनता को संगठित करने और उत्तरदाई शासन-पद्धति प्रचलित कराने के लिए उद्योग कर रही है।

आसाम के राज्य—आसाम में मणिपुर तथा १५ खासी राज्य हैं। खासी राज्य बहुत ही छोटे-छोटे हैं, कुल मिलाकर उन सब का क्षेत्रफल ३८०० वर्गमील और जनसंख्या लगभग दो लाख है। मणिपुर का क्षेत्रफल ८६३८ वर्गमील और आबादी लगभग छः लाख है। अब शासन महाराजा एक सलाहकार दरबार की सहायता से करते हैं, जिसमें सभापति और उपसभापति के अतिरिक्त छः नामजद सदस्य मणिपुर के होते हैं। शासन जनता के प्रति कुछ भी उत्तरदाई नहीं है।

खासी राज्यों में एक प्रकार का प्रजासत्तात्मक राज्य है। राजा चुना हुआ होता है। शासन-कार्य पंचायतों द्वारा होता है। वे ही कानून बनाती और न्याय का काम करती हैं; राजा उसमें बहुत कम हस्तक्षेप करता है।

उड़ीसा के राज्य—उड़ीसा में २६ रियासतें हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—ढेकनाल, तालचेर, नयागढ़, सरायकेला, बामरा, गंगपुर, हिंडोल, आंटगढ़, नीलगिरी, कलहंडी, पटना, मयूरभंज। इनकी बहुत सी जनता आदिम निवासियों की है। इनके निवासी संस्कृति, रीतिरिवाज, रहनसहन धार्मिक विचार तथा भावनाओं में अपने पड़ोसी, 'ब्रिटिश भारत' वालों

से मिलते हैं। इनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका की ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। इन राज्यों की शासनपद्धति स्वेच्छाचारपूर्ण और मध्यकालीन है। जनता पर कर लगाने में किसी सिद्धान्त का विचार नहीं किया जाता—विवाह कर, शिक्षा कर, श्राद्ध कर, जंगल कर, दत्तक कर, विधवा विवाह कर, पुनर्विवाह कर, यज्ञोपवीत कर आदि अनेक मनमाने कर हैं। राजा लोग राज्य की आय का आधा हिस्सा अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए खर्च कर डालते हैं। प्रायः जनता द्वारा संचालित म्युनिसपेलटियाँ या लोकल बोर्ड नहीं है। अस्पताल और स्कूल बहुत कम तथा दूर दूर है। जनता को बहुधा सभा-सम्मेलन, लेखन प्रकाशन आदि की अनुमति नहीं होती। बिना मुकदमा चलाए गिरफ़ारी, देश-निकाला, और माल की ज़ब्ती होती रहती है। यहां स्त्रियों को भी पाटा जाना और बेइज्जत किगा जाना अनहोनी बात नहीं रही है। व्यवस्थापक परिषदें नाममात्र की और प्रायः अधिकारहीन हैं। तालचेर की आबादी में से एक-तिहाई अर्थात् सत्तर हजार में से लगभग पच्चीस हजार आदमी औरतें और बच्चे सन् १९३८-३९ में अधिकारियों की असह्य ज्यादतियों के कारण अपना घर-बार छोड़कर राज्य से निकल गये थे। इससे इन राज्यों की शासन-पद्धति का सहज ही अनुमान हो सकता है।

मध्यप्रान्त के राज्य—मध्यप्रान्त के देशी राज्य निम्नलिखित हैं—बसतर, छुईखदान, जशपुर, कांकेर कवर्धा, खैरागढ़, कोरिया, नंदगांव, रायगढ, सक्ती, सारंगढ, सारगुजा, उदयपुर और मकड़ई। इनमें सबसे बड़ा बसतर है, जिसका क्षेत्रफल तेरह हजार वर्गमील, और जनसंख्या पांच लाख मे अधिक है; और सब से छोटा राज्य सक्ती है जिसका क्षेत्रफल १३७ वर्गमील और आबादी पचास हजार है। इन राज्यों में शासन या नागरिक अधिकार जैसी बात नहीं है, या यों कहा जा सकता है कि वहाँ शासकों की निरी निरंकुशता है।

विशेष वक्तव्य—इन छोटे-छोटे राज्यों में शासन की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात और आजीविका आदि की यथेष्ट व्यवस्था नहीं हो सकती। जनता की प्रमुख मांग उत्तरदाई शासन है। राज्य में व्यवस्थापक सभा, मन्त्रिमंडल, विश्वविद्यालय, हाईकोर्ट, पुलिस तथा अन्य योग्य कर्मचारियों की ज़रूरत होती है। गांव, कस्बे, तहसील या जिले की बराबरी के राज्य में इन कामों के लिए धन की व्यवस्था कैसे हो सकती है! इसका उपाय यही है कि इन राज्यों को पास के प्रान्त में, अथवा कुछ विशेष दशाओं में, किसी बड़ी रियासत में मिला दिया जाय, और देश भर में शासन की इकाइयाँ ऐसी हों, जो अपने बल पर स्वावलम्बी होते हुए उत्तरदाई शासनपद्धति प्रचलित कर सकें। इस विषय में खुलासा पहले लिखा जा चुका है।

इकत्तीसवाँ अध्याय

देशी राज्यों में नागरिक अधिकार

जनता को बुनियादी नागरिक अधिकार, बिना किसी हस्तक्षेप के, प्राप्त होने चाहिएँ। —के० आर० आर० शास्त्री

पिछले अध्यायों में विविध देशी राज्यों की शासनपद्धति के साथ नागरिक अधिकारों के बारे में भी कुछ लिखा गया है; पर यह विषय इतने महत्व का है कि इसका कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

प्राचीन भारत में नागरिक अधिकार—नागरिक अपना जीवन अच्छी तरह बिता सकें, उन्हें अपना रोज़मर्रा का काम करने में बाधाएँ न हों, और वे अपना विकास अच्छी तरह कर सकें, इसके लिए उन्हें विविध अधिकारों की आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में अनेक

देशों में, जब जनता की नागरिक स्वतन्त्रता पर आघात किया गया तो लोगों ने सशस्त्र क्रान्ति करके दमन करनेवाले शासकों को समाप्त किया और राजनीतिक स्वाधीनता के साथ नागरिक अधिकार भी हासिल किये। भारतवर्ष में भी ऐसी कई क्रान्तियाँ समय-समय पर हुई। अंगरेजों के समय में पहली मुख्य क्रान्ति सन् १८५७ में हुई, जब कि राजनीतिक पराधीनता और अंगरेजों के अत्याचार दूर करने का बीड़ा उठाया गया था। दुर्भाग्य से उसमें सफलता न मिली। उसके बाद यद्यपि महारानी विक्टोरिया की घोषणा में भारतीय जनता को धार्मिक स्वतंत्रता और कानून का शासन देने का वचन दिया गया, जिसमें सभी नागरिक अधिकारों का समावेश हो जाता है, तथापि भारतवासी अपने एक बहुत पुराने अधिकार से तो स्पष्ट रूप से वंचित कर दिये गये—उन्हें निहत्था कर दिया गया, उनके हथियार रखने के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

सन् १८५७ के बाद का दमन—अब भारतवासी केवल सभाओं तथा समाचारपत्रों द्वारा ही अपनी मांग प्रकट कर सकते थे। पर इसके वे विशेष आदी न थे। इस लिए उन्होंने इन अधिकारों का भी विशेष उपयोग न किया। अट्ठाइस वर्ष के बाद कुछ शिक्षित आदमियों ने अंगरेजों के अत्याचार और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए कांग्रेस अर्थात् राष्ट्रीय महासभा का संगठन किया। सभाओं और अखबारों द्वारा अधिकारों को प्राप्त करने का आन्दोलन क्रमशः बढ़ता गया। सरकार को यह सहन न हुआ, उसने लेखन और भाषण पर भी कड़ी रोक लगा दी। स्वाधीनता की मांग करनेवालों पर दंड-विधान की दफा १२४ आदि की तलवार लटकायी गयी, राजनीतिक सभा सोसायटियों को नियमविरुद्ध ठहराया गया; अहिन्सात्मक सभाओं, पिकेटिंग (धरना), जलूसों और हड़ताल, शान्तिमय आन्दोलन और सत्याग्रह को कुचलने के लिए जनता पर लाठीचार्ज ही नहीं हुए, गोलियां तक बरसाई गयीं।

हजारों देशभक्तों को दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह साल तक की कैद, नजरबन्दी और कालापानी की सजाएँ दी गयीं, उनसे पशुओं का सा व्यवहार किया गया। भारी-भारी जुर्माने और माल की कुर्की ने अनेक कुलीन व्यक्तियों का जीवन दूभर कर दिया। बेंत और कोड़ों की सजा ने जन-साधारण पर कड़ा आतंक जमाया गया। इस तरह अनेक माई के लालों के प्राण अपहरण किये गये या उन्हें जीते जी मौत का अनुभव कराया गया। सिर्फ १९३७-३९ का थोड़ा सा समय छोड़कर, अंगरेजी अमलदारी का भारतीय इतिहास नागरिक अधिकार छीने जाने की एक लम्बी करुण कहानी है। परन्तु इसके साथ ही गर्व पूर्वक कहा जा सकता है कि भारतवासी चुपचाप बैठने वाले न थे। उन्होंने अत्याचारी नौकरशाही के सामने आत्मसमर्पण नहीं किया। वे अपने अधिकारों के लिए बराबर लड़ते रहे; इसी का यह परिणाम है कि वे अब राजनीतिक स्वाधीनता के साथ अपने मानवोचित नागरिक अधिकार पा रहे हैं।

देशी राज्यों की स्थिति—अंगरेजों के शासन में नागरिक अधिकारों का जैसा अपहरण ब्रिटिश भारत में हुआ है, देशी राज्यों में उससे भी अधिक हुआ। भारतवर्ष का शासन-सूत्र ईस्टइंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश पार्लिमेंट के अधीन हुआ तो राजाओं को अपने-अपने राज्यों के भीतर बहुत-कुछ मनमानी करने की छुट्टी मिल गयी। यह ठीक है कि देशी राज्यों में जनता के पास हथियार रहे, पर शासकों के बढ़िया शस्त्रास्त्रों की तुलना में वे नाममात्र के थे। फिर, रियासती शासकों को ब्रिटिश सरकार की आधुनिक ढग की भारी-भरकम सेना, संगीन और तोपों की सहायता प्राप्त थी। ब्रिटिश सरकार के बल पर राजा महाराजाओं ने जनता के नागरिक अधिकारों की अवहेलना करके पूरी निरंकुशता का परिचय दिया। लेखन और भाषण पर रोक लगाने के साथ लाउड स्पीकर और साइक्लोस्टाइल पर प्रतिबन्ध लगाये गये। खादी के वस्त्रों या गांधी टोपी वालों पर कड़ी निगाह रखी गयी,

और उन्हें खूब परेशान किया गया। यदि किसी ने ऐसी बेहूदी बातों को मानने से इन्कार करने का साहस दिखाया तो उसे तरह-तरह से घोर कष्ट दिया गया।

आन्दोलन के समय एक-एक रियासत में हजारों आदमियों को जेल में ठूंसा गया। और, रियासतों का जेल-जीवन लिखने का विषय नहीं है, उसका भयंकर अमानुषिक रूप भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। निदान, रियासतों में और खासकर जागीरी इलाकों में नागरिक अधिकारों का प्रायः नाम तक न रहा। लोगों का जन धन और बहू-बेटियाँ भी सुरक्षित न रहीं। जिस किसी ने अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठायी, या जिसकी ओर से शासक को यह आशंका हुई कि इसमें कुछ आजादी की भावना है, उसे बुरी तरह सताया गया। झूठे मुकदमे चलाना, गुंडों द्वारा जूतों से पिटवाना और लुटवाना, खेतों और खलिहानों में आग लगवा देना, तरह-तरह से बेइज्जत करना रियासतों और जागीरों में होने वाली मामूली बातें रही हैं। कितने ही स्थानों में पुलिस और अदालतें सिर्फ दमन और शोषण के साधन हैं। जो हो, बहुत से आजादी के दीवानों ने रियासतों के अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए आत्म-हत्या कर डाली; बाहरी दुनिया को उनका हाल बहुत कम मालूम हुआ।

आवश्यक सुधार—रियासती कार्यकर्ताओं ने एक-एक नागरिक अधिकार के लिए अपने राज्य से काफी संघर्ष लिया है। बहुत मुद्दत के बाद जाकर जनवरी १९४६ में नरेन्द्र-मंडल ने नागरिक अधिकारों की एक अच्छी घोषणा की थी। पर वह सिर्फ जबानी जमा-खर्च रही। इस विषय में पहले कहा चुका है। अस्तु, इस समय भी अधिकांश देशी राज्यों में नागरिक अधिकार प्रायः कुछ भी नहीं है, कितने ही स्थानों में कानून से बन्द हो जाने पर भी बेगार व्यवहार में प्रचलित ही है। अनेक दशाओं में नागरिकों को बिना मुकदमा चलाये, चाहे-जितने समय तक, कारावास में रखा जाता है, या राज्य से बाहर निकाल दिया जाता

है। ऐसे सब गैर-कानूनी व्यवहार तुरन्त बन्द किये जाने की जरूरत है। राज्य में नागरिक स्वतंत्रता की व्यवस्था होनी चाहिए। नागरिकों को सभा सम्मेलन करने, भाषण देने, समाचारपत्र या पुस्तकें प्रकाशित करने अथवा अन्य प्रकार से सार्वजनिक विषयों पर मत प्रगट करने तथा आलोचना या वादविवाद में भाग लेने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए। यह स्वतंत्रता उस सीमा तक रहनी चाहिए, जहाँ तक कि इससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंसा, द्वेष या कलह आदि न बढ़ने पावे। जब कभी कोई नागरिक अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करे तो स्वतन्त्र न्यायालय द्वारा जाँच होने पर उचित कार्यवाही की जाय।

नागरिकों की शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक उन्नति करना राज्य का कर्तव्य ही है। यदि नागरिक स्कूल, अस्पताल आदि सार्वनिक संस्थाएँ स्थापित करना चाहें, तो राज्य की ओर से उन्हें यथेष्ट प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसी प्रकार राज्य के आदमियों को बाहर जाने तथा बाहर वालों को राज्य में आने देने में कोई बाधा उपस्थित न की जानी चाहिए। लोगों के परस्पर मिलने-जुलने तथा यात्रा करने से ज्ञान-वृद्धि होती है, व्यापार बढ़ता है, इससे जनता और राज्य दोनों को आर्थिक लाभ भी होता है। आम तौर से इसकी अनुमति ही नहीं होनी चाहिए, वरन् इसके लिए सुविधाएँ प्रदान कर प्रोत्साहन किया जाना चाहिए। हाँ, विशेष दशाओं में, जब ऐसा कार्य राज्य को क्षति पहुँचाने वाला हो तो उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है; परन्तु प्रतिबन्ध कानून द्वारा, नियमित रूप से ही लगना चाहिए ; अधिकारियों को मनमानी कार्यवाही करने का अवसर नहीं दिया चाहिए।

यही नहीं, यदि कोई अधिकारी नागरिकों की स्वतंत्रता अपहरण करने का दोषी पाया जाय तो उसे चेतावनी या दंड देकर ठीक करने और दूसरों के लिए अच्छा उदाहरण उपस्थित करने की आवश्यकता है। नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में जब नागरिकों का शासकों से

मतभेद हो तो किसका पक्ष ठीक है, इसका निर्णय करने का भी काम राज्य के न्यायालयों का है; यह नहीं, कि राजा या अन्य पदाधिकारी चाहे-जैसा फैसला करें। फिर, जो न्यायालय हों, उन पर शासकों का प्रभाव न पड़ना चाहिए। वे स्वतंत्र रहने चाहिएँ। इस विषय में विशेष पहले भाग के 'न्यायालय' अध्याय में लिखा जा चुका है।

नागरिक स्वाधीनता संघ—सर्वसाधारण को नागरिक अधिकार दिलाने और उनके प्राप्त अधिकारों की रक्षा करने का काम ऐसा महत्त्वपूर्ण है कि खास इसी के लिए अलग संस्थाओं की आवश्यकता होती है। इन्हें नागरिक स्वाधीनता संघ (सिविल लिबर्टीज़ यूनियन) कहते हैं। इनका कर्तव्य यह होता है कि अपने क्षेत्र में इस बात का ध्यान रखें कि राज्य के अधिकारी किसी व्यक्ति या संस्था से नियम-विरुद्ध या अनुचित व्यवहार तो नहीं करते; जब यह मालूम हो कि किसी नागरिक अधिकार का अपहरण किया गया है तो यह संस्था सम्बन्धित अधिकारी के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करे; यदि अदालत भूल से या अधिकारियों के दबाव में आकर गलत फैसला दें तो उस फैसले के विरुद्ध अपील की जाय। अगर राज्य का कोई कानून कायदा अनुचित हो तो उसे रद्द कराया जाय। ब्रिटिश भारत में ऐसे संघों का संगठन कहीं-कहीं हुआ है, देशी रियासतों में तो इनकी बहुत ही आवश्यकता है। यहाँ इन्हें उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त हरिजनों और पिछड़ी हुई जातियों को उँची मानी जानी वाली जातियों के अत्याचारों से बचाने और जागीरदारों की ज्यादतियों को रोकने का भी काम करना है। आशा है, ये संघ यथेष्ट संख्या में बनेंगे और काम करने लगेंगे।

———

बत्तीसवाँ अध्याय

राजाओं का कर्तव्य

'अब परिस्थियाँ बदल गयी हैं। जनता प्रजातंत्री उसूलों को समझने लगी है। संगठन के कारण, उसमें हिम्मत आ गयी है। अंगरेजी फौजें भी हमारी रक्षा के लिए नहीं बची हैं।...हमें नेताओं के साथ कंधा भिड़ाकर राष्ट्र के लिए, सच्चा स्वराज्य प्राप्त करने के लिए भिड़ जाना है -ऐसा स्वराज्य, जिसमें गरीबी, अज्ञान और जीवन-निर्वाह के साधनों की कमी न रहे। हमारे कार्य के अनुरूप सुविधाएँ हमें अपने आप मिलेंगी।' —औंध के महाराज

पिछले पृष्ठों में हमने भारतवर्ष के विविध भागों के कुछ-कुछ देशी राज्यों की शासनपद्धति का, तथा जनता के नागरिक अधिकारों का विचार किया। यह विषय अनन्त है, पर विचारशील पाठकों के लिए इतना ही विवेचन काफो है। अब हमें कुछ खास-खास बातों का और विचार करके इस कथा को समाप्त करना है। देशी राज्यों के सम्बन्ध में इस जमाने की प्रधान घटना उनका ब्रिटिश सरकार के दबाव से छुटकारा पाना है।

ब्रिटिश सत्ता से मुक्ति—देशी राज्यों से सम्बन्ध रखनेवाले मुख्य पक्ष अब तक ये तीन रहे हैं :—(१) ब्रिटिश सरकार, (२) राजा महाराजा, और (३) रियासती जनता। साधारण रूप में इन तीनों का महत्व उत्तरोत्तर अधिक है, ब्रिटिश सरकार की अपेक्षा राजा महाराजाओं का महत्व अधिक, और राजाओं से भी जनता का अधिक। परन्तु पिछले वर्षों में हमारी राजनीति कृत्रिम और अस्वाभाविक रूप में रही है। जनता को ब्रिटिश साम्राज्यशाही का साधन समझा गया और उसका हर प्रकार से दमन और शोषण किया गया। इस कार्य के खास औज़ार बने, हमारे राजा महाराजा। जनता-जनार्दन

को दोहरी गुलामी का भार सहना पड़ा।

अपने जमाने में ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष के राजामहाराजाओं से कैसा व्यवहार किया, और रियासती जनता के प्रति कैसी भावना रखी, यह अब इतिहास का विषय है; इस पुस्तक के पहले भाग में उसका कुछ परिचय दिया जा चुका है। साधारण तौर से यह कहा जा सकता है रियासतों में होनेवाले निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन की जिम्मेवरी बहुत-कुछ उसपर रही है। भारत-मंत्री, वायसराय और पोलिटिकल एजन्ट आदि ने लोगों की निगाह में ऊँचा जचने के लिए समय-समय पर राजाओं को शासन-सुधार का उपदेश भले ही दिया, वे प्रायः क्रियात्मक उपाय काम में नहीं लाये। धीरे-धीरे यहाँ के कार्यकर्ता और नेता समझ गये कि ब्रिटिश सरकार को नरेशों के रूप में साम्राज्यशाही के भक्तों और सहायकों की बहुत ज़रूरत है, वह अपने इन 'लाडले सरदारों' का ह्रास क्यों पसन्द करेगी, जो अपनी रङ्ग-बिरङ्गी भड़कीली पोशाक, बहुमूल्य हीरे जवाहरात वाले मुकट और बांकी छटा से न केवल भारतवर्ष या ब्रिटिश साम्राज्य में, वरन् राष्ट्र संघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी उसके प्रभुत्व के जीते-जागते विज्ञापन हैं। अस्तु, समय ने पलटा खाया। अपनी इच्छा से या लाचारी से अंगरेजों को भारत छोड़ने का निश्चय करना पड़ा। भारतवासियों की बहुत दिनों की एक साध पूरी हुई। अनेक पुरुषों और स्त्रियों, युवकों और युवतियों, तथा बूढ़ों और बालकों के त्याग, बलिदान और साधना की बदौलत १५ अगस्त १९४७ से भारतवर्ष, कुछ खंडित रूप में सही, आजाद हो गया है।

नयी परिस्थिति,—ब्रिटिश सत्ता के हट जाने से हमारे राजनीतिक वातावरण में बड़ा परिवर्तन हो गया है; अब परिस्थिति बदल गयी है, नये युग का श्रीगणेश हो गया है। रियासती जनता पर पहले दोहरी-गुलामी थी, अब उनपर वह विदेशी केन्द्रीय सरकार नहीं रही है, जो

उनकी प्रगति में वाधा पहुँचाती थी, और निरंकुश शासकों की पीठ ठोकती थी। अब तो भारत-सरकार वास्तव में भारतीय सरकार है, इस नयी सरकार से देश के अन्य भागों सहित रियासतों के भी प्रगतिशील तत्वों में सहायता ही मिलेगी। और यदि कुछ सामयिक बन्धनों के कारण यह नयी सरकार अभी जल्दी ही प्रभावशाली या परिणाम-कारक सहायता न भी पहुँचा सके तो इस सरकार द्वारा पहले की सरकार की तरह वाधा पहुँचने की तो आशंका नहीं हो सकती।

मालूम होता है कि राजा लोग अभी इस नयी परिस्थिति को अच्छी तरह अनुभव नहीं कर पाये हैं, तभी तो उनमें से बहुत सों का पुराना रवैया बना हुआ है। पिछले अध्यायों में हमने देखा कि अनेक रियासतों में जनता नागरिक अधिकारों से वंचित है, और राजा लोग अपने-अपने राज्य में उत्तरदाई शासनपद्धति प्रचलित करने में विशेष प्रयत्नशील नहीं हैं। इसलिए उन का जनता से संघर्ष होता है। राजा लोग जनता को कुछ छोटी-मोटी बातों में फँसाये रखना चाहते हैं, पर इस से समस्या का स्थायी हल नहीं होता। संघर्ष बढ़ता जाता है, और उसका स्वरूप अधिकाधिक उग्र होने की आशंका है। इस का उपाय यही है कि नयी परिस्थिति के अनुसार जनता की आवश्यकताओं का यथेष्ट विचार किया जाय।

राजाओं की छत्रछाया?—इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना है कि भविष्य में चाहे जो हो, इस समय रियासती नेताओं ने देशी राज्यों में उत्तरदाई शासन के साथ किसी तरह 'राजाओं की छत्रछाया' स्वीकार कर रखी है। यह बन्धन उन्हों ने व्यावहारिकता के नाते, स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर लगाया हुआ है। अब से छः वर्ष पहले नवम्बर १९४१ में सीकर (जयपुर) राजनीतिक सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में जयपुर प्रजा-मण्डल के सभापति श्री० हीरालाल जी शास्त्री ने अपने प्रभावपूर्ण भाषण में कहा कहा था—'प्रजामण्डल का

उद्देश्य भी महाराज की छत्रछाया में उत्तरदाई शासन प्राप्त करना है। पर जो छत्र हमारी सब कोशिशों के बावजूद, हमारे सिर पर छाया नहीं करना चाहता, उसके लिए हम क्या सोचें ? मैं तो सोचने लगा हूँ कि प्रजामण्डल के उद्देश्य की शब्दावली में परिवर्तन क्यों नहीं कर दिया जाय ? जैसे कांग्रेस ने अपने उद्देश्य में समय-समय पर परिवर्तन किया है, इसी तरह हमारी भी यही गति होती दिखती है। छत्रछाया चाहने से कुछ नहीं मिले तो फिर छत्रछाया के बिना ही काम चलाना पड़े। आज हम फिर एक बार नम्र निवेदन कर देना चाहते हैं, लेकिन कल की कौन जाने; हम दरख्वास्त पेश करना भी बन्द कर दें।'

अस्तु, राजाओं की छत्रछाया की बात कब तक मानी जायगी, यह यह तो स्वयं राजाओं के व्यवहार पर निर्भर है; सम्भव है कालान्तर में राजाओं की छत्रछाया की बात न रहे, और राजा बीते हुए युग की कहानी का पात्र रह जायँ। हमें इस विषय की बहस में न पड़ कर यही कहना है कि अभी तो देश के कुछ हिस्सों में राजतंत्र बना है, और इसको ध्यान में रख कर ही हमें रियासतों सम्बन्धी आवश्यकताओं पर विचार करना है।

राजतंत्र में हमारी आवश्यकताएँ—राजतंत्र में राजा का बड़ा महत्व होता है। इसलिए रियासतों के शासन-प्रबन्ध में हमें अपनी राजाओं सम्बन्धी आवश्यकताओं पर खास विचार करना है। ये आवश्यकताएँ दो हैं—(१) जनता को समस्त शक्ति और सत्ता का स्रोत मानकर राजाओं को उसका प्रथम सेवक और ट्रस्टी के रूप में रहना चाहिए। सब शासन-कार्य जनता के वास्तविक प्रतिनिधियों द्वारा, लोकहित की दृष्टि से हो; शासन का स्वरूप और व्यवहार निश्चित करने में जनता का निर्णय अन्तिम और सर्वोपरि रहे। सर्वत्र उत्तरदाई शासनपद्धति हो, और राजा सर्वथा वैधानिक शासक हो। (२) राजा

लोग भारतीय संघ को सहयोग देकर केन्द्रीय सत्ता को अधिक-से-अधिक मजबूत बनावें, जिससे कोई राष्ट्र इसे पददलित करने का साहस न करे, और यह न केवल स्वाधीन दूसरे राज्यों के प्रेम और आदर का अधिकारी हो, वरन् संसार के विविध पीड़ित प्रदेशों के उत्थान में भी सहायक हो। देशी राज्यों के लिए इस कार्य की पहली ज़रूरी मंजिल अपने भाव को भारतीय संघ का योग्य अंग बनाना है।

खेद है कि अभी बहुत से राजाओं ने अपने-अपने राज्य में उत्तरदाई शासन स्थापित करने के लिए सच्चाई और इमानदारी से कोशिश नहीं की; कितने ही राजा तो उसे रियासतों के अन्दरूनी मामलों की बात कहकर उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। इसी तरह प्रायः राजाओं का कहना है कि हम तो अभी हाल भारतीय औपनिवेशिक राज्य (डोमिनियन) में शामिल हुए हैं। जब तक विधान-सभा भारतीय संघ का पूरा नक्शा बना कर हमारे सामने उपस्थित न करे तब तक हमें उसमें शामिल होने या न होने के बारे में अपना फैसला करने की पूरी आजादी है। इन दोनों बातों में राजाओं के विचारों में मौलिक परिवर्तन होने की जरूरत है।

राजा महाराजा गंभीरता से विचार करें—भारतीय सङ्घ का भव्य भवन निर्माण करने के लिए, हम आज अपनी शक्ति सञ्चय करने के प्रयत्न में सभी शासकों और अधिकारियों से सहयोग की याचना करते हैं। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि देशी राज्यों का, जो भारतवर्ष के अलग न हो सकने वाले अंग है, भविष्य उज्ज्वल होने में हमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। हमारा उत्थान प्रभात के बाद सूर्योदय की तरह निश्चित है। घड़ी की सूई अब पीछे नहीं हटाई जा सकेगी। विघ्न-सन्तोषियों द्वारा उपस्थित की जाने वाली बाधाओं के कारण हमारी रफ्तार कुछ धीमी भले ही रहे, और हमें चाहे कभी-कभी रास्ते से एक तरफ भी हटना पड़ जाय, पर कुल मिला कर हम

आगे ही बढ़ते रहेंगे। और, जो व्यक्ति या संस्थाएँ हमारे रास्ते में रोड़े अटकावेंगी, उन्हें जल्दी ही अपनी दुष्कृति और अनीति पर दुखी होने का अवसर आवेगा। वे भारतीय इतिहास में अपने नाम पर ऐसा कलंक का टीका लगा जायंगी, कि उनके उत्तराधिकारियों के लिए उसे चिरकाल तक मिटाना सम्भव न होगा।

इसलिए राजाओं और उनके सलाहकारों से—दीवानों, मंत्रियों या वजीरों आदि से—हमारा दृढ़ अनुरोध है कि इतिहास की इस निर्णायक घड़ी में में वे अपने कर्तव्य पथ से इधर-उधर न भटक जायँ। वे सोच समझ कर कदम उठावें; अपने देशवासियों और मानव जाति के हित के लिए यथेष्ट त्याग करने के लिए तैयार रहें। सत्ता, अधिकार, धन और प्राण सभी को लोकहित के लिए न्योछावर करने से ही व्यक्तियों तथा संस्थाओं का गौरव है। यही कल्याण का मार्ग है; यही वास्तविक जीवन है।

— — —

तेतीसवाँ अध्याय

देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं से

रियासत के लोगों में ज्ञान है, ताकत है, राजनीतिक भावना है; लेकिन संगठन की अभी सख्त कमी है। अच्छा संगठन तभी मुमकिन है, जब हमारे कार्यकर्ताओं में ऊँची खूबियाँ हों; वे अपने-आप को पीछे रखें, और लोगों की भलाई को आगे।

—सादिक अली

पिछले अध्याय में राजाओं के बारे में कुछ निवेदन कर चुकने पर हमें अब अपने कार्यकर्ता भाइयों से कुछ बातें कहनी हैं। यह तो निश्चित ही है कि यह उत्तरदाई शासनपद्धति का युग है। उस लोकतंत्री शासनपद्धति को यथा-सम्भव जल्दी आमंत्रित करने के

लिए, और उसकी स्थापना हो जाने पर उसका यथेष्ट उपयोग करने के लिए जनता को, खासकर रियासती कार्यकर्ताओं को, बहुत सावधान रहते हुए अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। यहाँ हम कुछ मुख्य-मुख्य बातों की ओर उनका ध्यान दिलाते हैं।

दलबन्दी से दूर रहने की आवश्यकता—हमारे सार्वजनिक जीवन का एक खास विकार दलबन्दी है। यदि कार्यकर्ता किसी विशेष सिद्धान्त और आदर्श को सामने रख कर उत्साह से काम करने के वास्ते अलग-अलग दल बनावें तो कोई हर्ज नहीं, वरन् इससे लाभ ही है। परन्तु जब संकुचित भावना और क्षुद्र स्वार्थों का विचार करके दलबन्दी की जाती है, और एक दल दूसरे दल को नीचा दिखाने की ताक में रहता है, यहां तक कि इसके लिए अधिकारी वर्ग से मिल कर अपना मतलब सिद्ध करने में संकोच नहीं करता तो सार्वजनिक जीवन बहुत कलुषित हो जाता है। जनता का ठीक-ठीक पथप्रदर्शन नहीं होता और उसका संगठन प्रबल न रहने से वह सहज ही सत्ताधारियों के दमन की शिकार होने लगती है। फिर आजादी प्राप्त करने की तो बात ही क्या, नागरिक उन्नति की अन्य योजनाओं को भी सफलतापूर्वक अमल में नहीं लाया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि कार्यकर्ताओं को दलबन्दी की जहरीली हवा से दूर रहने की बहुत ही आवश्यकता है।

साम्प्रदायिकता से बचने की जरूरत—हमारे कार्यकर्ता समय-समय पर विविध विषयों के आन्दोलन आरम्भ करते हैं, और उनके लिए काफी मुसीबतें सहने को भी तैयार रहते हैं। परन्तु वे स्वयं उसमें साम्प्रदायिकता की एक ऐसी बाधा उपस्थित कर देते हैं कि आन्दोलन निर्जीव होजाता है, और उसकी सफलता की कोई आशा नहीं रहती। बात यह है कि साम्प्रदायिक आधार पर किये हुए आन्दोलन को सार्वजनिक समर्थन के बजाय जनता के एक हिस्से का ही समर्थन मिलता है। ऐसे आन्दोलन को अधिकारी सहज ही दबा सकते हैं, और अगर

इसका कुछ अच्छा नतीजा निकलता भी है, तो उसके स्थायी होने का भरोसा नहीं रहता। हमारे बहुत से कार्यकर्ताओं की ऐसी आदत होती है कि वे विविध नागरिक या राजनीतिक विषयों को साम्प्रदायिक दृष्टि-कोण से देखते है। अगर रियासत का प्रधान शासक हिन्दू है और वहाँ मुसलमानों की किसी शिकायत को दूर करने का उपाय नहीं किया जाता तो हिन्दू कार्यकर्ता उस ओर ध्यान देना और अपने मुसलिम भाइयों से क्रियात्मक सहानुभूति दिखाना अपना कर्तव्य नहीं समझते। यही नहीं, कुछ कार्यकर्ता तो रियासती सवालों को राजपूतों और गैर-राजपूतों के, जाटों और गैर-जाटों के, या ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण के सवाल के रूप में देखते हैं। शासक और अधिकारी तो यह चाहते ही हैं, और वे कुछ आदमियों को पद, उपाधि या पुरस्कार आदि का प्रलो-भन देकर आन्दोलन को पनपने से पहले ही कुचलने में कामयाब हो जाते हैं। इस लिए यह बहुत ज़रूरी है कि आर्थिक, राजनीतिक या या अन्य नागरिक आन्दोलनों पर साम्प्रदायिक रंग न चढ़ने दिया जाय।

एक राज्य में एक ही राजनीतिक संस्था—यदि दलबन्दी और साम्प्रदायिकता से बचा जाय तो एक राज्य में एक ही राजनैतिक संस्था हो। खेद है कि कई राज्यों में कार्यकर्ताओं की एक ही कार्य के लिए कई-कई संस्थाएँ हैं, इससे उनकी शक्ति बँटी रहती है, वे सत्ताधारियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा नहीं ले सकते, उनका संगठन कमजोर होता है, और उनका कितना ही समय, शक्ति और द्रव्य एक दूसरे के दोष निकालने और यथा-सम्भव उसे विफल मनोरथ करने में खर्च होता है। यह बात सार्वजनिक और राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही हानिकर है। वास्तव में एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक-से-अधिक समानान्तर संस्थाओं का होना किसी प्रकार उचित या आवश्यक नहीं है। जो आदमी अलग संस्था बना कर उसमें अपने लिए या अपने मित्रों या रिश्तेदारों

आदि के लिए विविध पद प्राप्त करने और जनता पर अपना महत्व जताने की योजना करते हैं, वे राज्य की उन्नति में बाधा डालनेवाले होते हैं। उनके सामने अपने निजी स्वार्थ या अहंकार का प्रश्न मुख्य होता है, राज्य का हित उनके लिए गौण होता है। वे जनता को, और उसके साथ अपने आप को धोखा देते हैं। ऐसे लोगों से राज्य को बचाए रखना बहुत आवश्यक है। निदान, हर राज्य में वहाँ के कार्य-कर्ताओं का संगठित मोर्चा रहना चाहिए और एक ही राजनीतिक संस्था होनी चाहिए। यदि किसी कारण से दो संस्थाएँ हों, तो उनमें से एक के कार्यकर्ताओं को उदारता पूर्वक अपनी संस्था को राजनीतिक क्षेत्र से हटा कर दूसरी हितकर प्रवृत्तियों में लगा देना चाहिए। जो लोग शुद्ध हृदय से सेवा-कार्य करना चाहते हैं, उनके लिए कार्य का अनन्त क्षेत्र पड़ा है, फिर, ख्वाहमख्वाह आपसी संघर्ष में अपनी शक्ति क्यों नष्ट की जाय!

उत्तरदाइत्व और लोक-सेवा की भावना—कार्यकर्ताओं को चाहिए कि अपने उत्तरदायित्व का यथेष्ट ध्यान रखें, जो काम उन्हें सौंपा जाय, उसे अच्छी तरह ठीक समय पर पूरा करें। जो बात वे कहें या लिखें, वह सोलह आने ठीक हो, उसे कोई काट न सके। उनकी सचाई की छाप उनके विरोधियों पर भी अच्छी तरह पड़े। एक कार्य-कर्ता की थोड़ी सी ढील या अत्युक्ति का परिणाम बहुत बुरा हो सकता है, यहाँ तक कि संस्था को साख को धक्का पहुँच सकता है। हरेक संस्था को धन और जन की अर्थात् कोष, और सदस्यों की आवश्यकता होती है, तथा उसका वास्तविक बल सदस्यों का सच्चरित्र होता है। इस-लिए हर एक कार्यकर्ता को संयम, त्याग और कष्ट-सहन की आवश्य-कता होती है। उसके मन में लोक-सेवा की अटूट भावना हो, अपने निजी स्वार्थ या सुख की अवहेलना करता हुआ वह निरन्तर सेवा-व्रत की साधना में लगा रहे।

इसका कुछ अच्छा नतीजा निकलता भी है, तो उसके स्थायी होने का भरोसा नहीं रहता। हमारे बहुत से कार्यकर्ताओं की ऐसी आदत होती है कि वे विविध नागरिक या राजनीतिक विषयों को साम्प्रदायिक दृष्टि-कोण से देखते है। अगर रियासत का प्रधान शासक हिन्दू है और वहाँ मुसलमानों की किसी शिकायत को दूर करने का उपाय नहीं किया जाता तो हिन्दू कार्यकर्ता उस ओर ध्यान देना और अपने मुसलिम भाइयों से क्रियात्मक सहानुभूति दिखाना अपना कर्तव्य नहीं समझते। यही नहीं, कुछ कार्यकर्ता तो रियासती सवालों को राजपूतों और गैर-राजपूतों के, जाटों और गैर-जाटों के, या ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण के सवाल के रूप में देखते हैं। शासक और अधिकारी तो यह चाहते ही हैं, और वे कुछ आदमियों को पद, उपाधि या पुरस्कार आदि का प्रलो-भन देकर आन्दोलन को पनपने से पहले ही कुचलने में कामयाब हो जाते हैं। इस लिए यह बहुत ज़रूरी है कि आर्थिक, राजनीतिक या या अन्य नागरिक आन्दोलनों पर साम्प्रदायिक रंग न चढ़ने दिया जाय।

एक राज्य में एक ही राजनीतिक संस्था—यदि दलबन्दी और साम्प्रदायिकता से बचा जाय तो एक राज्य में एक ही राजनैतिक संस्था हो। खेद है कि कई राज्यों में कार्यकर्ताओं की एक ही कार्य के लिए कई-कई संस्थाएँ हैं, इससे उनकी शक्ति बँटी रहती है, वे सत्ताधारियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा नहीं ले सकते, उनका संगठन कमजोर होता है, और उनका कितना ही समय, शक्ति और द्रव्य एक दूसरे के दोष निकालने और यथा-सम्भव उसे विफल मनोरथ करने में खर्च होता है। यह बात सार्वजनिक और राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही हानिकर है। वास्तव में एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक-से-अधिक समानान्तर संस्थाओं का होना किसी प्रकार उचित या आवश्यक नहीं है। जो आदमी अलग संस्था बना कर उसमें अपने लिए या अपने मित्रों या रिश्तेदारों

आदि के लिए विविध पद प्राप्त करने और जनता पर अपना महत्व
जताने की योजना करते हैं, वे राज्य की उन्नति में बाधा डालनेवाले
होते हैं। उनके सामने अपने निजी स्वार्थ या अहंकार का प्रश्न मुख्य
होता है, राज्य का हित उनके लिए गौण होता है। वे जनता को, और
उसके साथ अपने आप को धोखा देते हैं। ऐसे लोगों से राज्य को
बचाए रखना बहुत आवश्यक है। निदान, हर राज्य में वहाँ के कार्य-
कर्ताओं का संगठित मोर्चा रहना चाहिए और एक ही राजनीतिक संस्था
होनी चाहिए। यदि किसी कारण से दो संस्थाएँ हों, तो उनमें
से एक के कार्यकर्ताओं को उदारता पूर्वक अपनी संस्था को राजनीतिक
क्षेत्र से हटा कर दूसरे हितकर प्रवृत्तियों में लगा देना चाहिए। जो
लोग शुद्ध हृदय से सेवा-कार्य करना चाहते हैं, उनके लिए कार्य का
अनन्त क्षेत्र पड़ा है, फिर, ख्वाहमख्वाह आपसी संघष में अपनी शक्ति
क्यों नष्ट की जाय !

उत्तरदाइत्व और लोक-सेवा की भावना—कार्यकर्ताओं को
चाहिए कि अपने उत्तरदायित्व का यथेष्ट ध्यान रखें, जो काम उन्हें
सौंपा जाय, उसे अच्छी तरह ठीक समय पर पूरा करें। जो बात वे कहें
या लिखें, वह सोलह आने ठीक हो, उसे कोई काट न सके। उनकी
सच्चाई की छाप उनके विरोधियों पर भी अच्छी तरह पड़े। एक कार्य-
कर्ता की थोड़ी सी ढील या अत्युक्ति का परिणाम बहुत बुरा हो सकता
है, यहाँ तक कि संस्था को साख को धक्का पहुँच सकता है। हरेक
संस्था को धन और जन की अर्थात् कोष, और सदस्यों को आवश्यकता
होती है, तथा उसका वास्तविक बल सदस्यों का सच्चरित्र होता है। इस
लिए हर एक कार्यकर्ता को संयम, त्याग और कष्ट-सहन की आवश्य-
कता होती है। उसके मन में लोक-सेवा की अटूट भावना हो, अपने
निजी स्वार्थ या सुख की अवहेलना करता हुआ वह निरन्तर सेवा-व्रत
की साधना में लगा रहे।

स्वावलम्बन की आवश्यकता—इस समय प्रायः सभी राज्यों में उत्तरदाई शासन और अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना के लिए आन्दोलन चल रहे हैं। कुछ कार्यकर्ता सोचते हैं कि हमारे साधन बहुत कम है, हमारे राज्य की जनता अशिक्षित या संगठित है, हम बिना बाहरी सहायता के अपने आन्दोलन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। इस लिए वे समय-समय पर बाहरी नेताओं और कार्यकर्ताओं को बुला कर उनकी मदद लेने के इच्छुक रहते हैं। यह तो ठीक है कि हमें अपने कार्य-संचालन की नीति आदि के बारे में दूसरों का परामर्श और सहानुभूति प्राप्त करते रहना चाहिए। परन्तु यह समझना भूल है कि बाहर के आदमियों से हमारा उत्थान हो सकेगा। जनता की लड़ाई में मुख्य भाग स्थानीय जनता को ही लेना चाहिए। बाहरी कार्यकर्ताओं के बल पर यदि कुछ सफलता प्राप्त भी हो जाय तो वह टिकाऊ नहीं होती। जो राज्य बहुत छोटे-छोटे हैं, उनके कार्यकर्ताओं को अपने पास के राज्य के कार्यकर्ताओं और जनता का सहयोग प्राप्त करके अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए और सम्मिलित शक्ति से आन्दोलन चलाना चाहिए; परन्तु हर दशा में उन्हें परावलम्बन की भावना हटा कर, जनता का बल, योग्यता और कार्यक्षमता बढ़ाने की ओर ध्यान देते रहना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—कार्यकर्ताओं को बहुत सी शक्ति स्वभावतः अपनी स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में लगती है, तथापि उन्हें अपना दृष्टिकोण व्यापक रखना चाहिए। राज्य के हरेक कार्यकर्ता के सामने पूरे राज्य का हित रहे, उसके किसी खास भाग की भलाई के लिए वह दूसरे भागों के हित की अवहेलना न करे। फिर, एक राज्य का दूसरे राज्य से सम्बन्ध है, और सब देशी राज्य विशाल भारतवर्ष के अंग है। इस लिए हम भारतीय राष्ट्र के उत्थान के लक्ष्य को रखते हुए ही अपने राज्य की उन्नति में दत्तचित्त हों।

इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हमें अपने उद्देश्य की सफलता में पूरा भरोसा हो। हम विश्वास रखें कि संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो हमारे महान राष्ट्र के उज्जल भविष्य को धूमिल कर सके। देशी राज्य भारतवर्ष के कभी भी अलग न होने वाले अंग हैं, इन की जनता में कोई मौलिक भेद नहीं है। रियासती जनता ने गैर-रियासती जनता के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया है, मुसीबतें उठायी है, और प्रशंसनीय त्याग किया है। अब जब कि शेष भारत स्वाधीन हो गया है, देशी राज्यों की जनता भी स्वाधीन होकर रहेगी। आओ! हम स्वाधीनता-युग के सुयोग्य नागरिक बनें।

परिशिष्ट

देशी राज्य प्रश्नावली

प्रिय पाठक! आप भारतवर्ष की उन्नति और प्रगति चाहते हैं, तो आप देशी राज्यों के हित की उपेक्षा नहीं कर सकते। आपको रियासती समस्याओं पर बराबर विचार करते रहना चाहिए। देशी राज्यों में उत्तरदाई शासनपद्धति प्रचलित करने, और उन्हें भारतीय संघ की योग्य इकाई बनाने के लिए निरन्तर सतर्क रहना और उद्योग करते रहना आवश्यक है। आपके पथप्रदर्शन के लिए उदाहरण-स्वरूप कुछ प्रश्न आगे दिये जाते हैं। इनका विचार करने से यह निश्चय करने में सुविधा होगी कि हम कहाँ हैं और क्या प्रगति कर रहे हैं।

नमूने के प्रश्न

[१] सिद्धान्त—

(क) 'राज्य' किसे कहते हैं, उसके मुख्य तत्व कौन-कौनसे होते हैं?

क्या भारतवर्ष के देशी राज्यों को वास्तव में 'राज्य' कहना ठीक है ?

(ख) 'देशी राज्यों के और भारतवर्ष के अन्य भागों के निवासी एक और अविभाज्य है।' इसे स्पष्ट करके समझाओ।

(ग) राजा का शासन सम्बन्धी आदर्श क्या होना चाहिए ? किसी व्यक्ति को योग्य राजा बनाने के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है ?

(घ) 'रामराज्य' का क्या अर्थ है। इसमें क्या-क्या गुण माने जाते हैं ?

(च) राजभक्ति और देशभक्ति का कहाँ तक और किस प्रकार समन्वय हो सकता है ?

(छ) देशी राज्यों के वर्गीकरण के क्या-क्या आधार हैं ? और, वे कहाँ तक उचित माने जा सकते हैं ?

[२] ऐतिहासिक—

(क) आर्य सम्राटों की अपने अधीन राज्यों के प्रति क्या नीति रहती थी ?

(ख) क्या प्राचीन भारत में राज्य एकतंत्री होते थे ? अच्छी तरह समझाओ।

(ग) हिन्दू धर्मशास्त्रों और प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार राजा और प्रजा के कर्तव्य बताओ ?

(घ) अंगरेजों के शासन-काल में राजाओं की प्रजा के प्रति उपेक्षा क्यों होने लगी ?

(च) अंगरेजों का, देशी राज्यों को बनाये रखने या कुछ नये राज्य बनाने में क्या हेतु रहा ?

(छ) पिछले डेढ़ सौ वर्ष में राजाओं ने देश के प्रति अपने कर्तव्य का कहाँ तक पालन किया ?

[३] उत्तरदाई शासन—

(क) उत्तरदाई शासन किसे कहते हैं।

(ख) भारतवर्ष के किस-किस राज्य में उत्तरदाई शासनपद्धति प्रचलित हो गई है ? उनमें से एक राज्य की शासनपद्धति का परिचय दो।

(ग) कौन-कौनसे राज्य उत्तरदाई शासन पद्धति के विचार से बहुत पिछड़े हुए हैं ? उनमें से एक की शासन-पद्धति लिखो।

(घ) वैध शासक का क्या अर्थ है ? उदाहरण देकर समझाओ।

(च) कौन-कौनसे राज्य उत्तरदाई शासन पद्धति स्थापित करने के लिए विशेष प्रयत्नशील हैं ?

[४] शासन व्यवस्था—

(क) जिस राज्य में आप रहते हैं, अथवा जो आपके सब से अधिक नजदीक है, उसमें राजा कहाँ तक वैध शासक है ?

(ख) उसमें कुल कितने मंत्री हैं, और उन्हें क्या-क्या विभाग सौंपे हुए हैं ?

(ग) मंत्रियों में से कितने गैर-सरकारी है ? क्या वे सब राज्य की व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदाई हैं ? सब मंत्रियों को उत्तरदाई बनाने के लिए क्या योजना है ?

(घ) व्यवस्थापक सभा का संगठन कैसा है ? कितने सदस्य किस-किस क्षेत्र या समूह से निर्वाचित होते हैं ?

(च) क्या व्यवस्थापक सभा में कुछ वर्गों का विशेष प्रतिनिधित्व है ? ऐसा होना कहाँ तक उचित है ?

(छ) राज्य में साधारण निर्वाचक की योग्यताएँ क्या निर्धारित की गयी हैं ?

(ज) बालिग मताधिकार का आदर्श कहाँ तक व्यवहार में आता है ?

(झ) व्यवस्थापक सभा को कानून बनाने और सरकारी बजट का नियन्त्रण करने का कहाँ तक अधिकार है ?

[५] न्याय व्यवस्था—

(क) जिस राज्य में आप रहते हैं, अथवा जो आपके सब से अधिक नजदीक है, उसमें नीचे से ऊपर तक किस-किस प्रकार की अदालतें हैं।

(ख) न्याय-विभाग शासन-विभाग से पृथक् है या नहीं ? क्या उस पर राजा, दीवान, रेवन्यू विभाग या पुलिस विभाग का कुछ प्रभाव पड़ता है ?

(ग) क्या न्याय इतना सस्ता है कि साधारण आर्थिक स्थितिवाला नागरिक उससे सहज ही लाभ उठा सकता है ?

(घ) मुकद्दमों का फैसला बहुत देर में तो नहीं होता ?

[६] स्थानीय स्वराज्य और जनहितकारी कार्य—

(क) राज्य में म्युनिसपेलटियाँ कितनी हैं; वे कहाँ तक प्रतिनिधि-मूलक हैं ? जिला-बोर्ड और पंचायतों की स्थिति कैसी है ?

(ख) स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के अधिकार और आयके साधन क्या हैं ?

(ग) इनमें राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप तो नहीं किया जाता ?

(घ) बालक बालिकाओं तथा प्रौढ़ों की संख्या के विचार से कितने स्कूल आदि होने चाहिएँ, और कितने इस समय हैं ?

(च) कृषि और उद्योग सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था कैसी है ?

(छ) क्या वर्तमान अस्पताल और औषधालयों से जनता की चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकता पूरी होजाती है।

(ज) जनता को आवश्यक भोजन, वस्त्र, लकड़ी, पानी आदि मिलने की यथेष्ट व्यवस्था है या नहीं ? क्या कमी है ? उसे किस प्रकार दूर किया जाय ?

[७] नागरिक अधिकार—

(क) क्या नागरिकों को भाषण देने, लेख आदि लिखने, पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित करने तथा बाहर से मंगाने की स्वतन्त्रता है ! यदि नहीं तो क्या प्रतिबन्ध है ?

(ख) राज्य के कार्यों या नीति की आलोचना करने वालों से कैसा व्यवहार किया जाता है ।

(ग) अच्छा उपयोगी साहित्य प्रकाशित करने में राज्य की ओर से क्या प्रोत्साहन मिलता है !

(घ) राज्य में बेगार या गुलामी तो किसी रूप में प्रचलित नहीं है !

(च) क्या राज्य में छपे हुए कानून हैं ! और क्या उनका ठीक तरह पालन होता है !

(छ) जागीरी इलाकों में नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए क्या व्यवस्था की जा रही है !

(ज) राज्य की वार्षिक रिपोर्ट छपती है या नहीं ! क्या वह सर्वसाधारण को आसानी से मिल सकती है !

[८] भारतीय संघ और देशी राज्य—

(क) भारतवर्ष में कुल कितने देशी राज्य हैं !

(ख) क्या सब देशी राज्य भारतीय संघ (या पाकिस्तान) की शासन सम्बन्धी अलग-अलग इकाई बन सकते हैं ! इकाई बनने के लिए क्या गुण होने आवश्यक हैं !

(ग) केन्द्रीय सरकार को किन-किन विषयों का अधिकार रहना अत्यन्त आवश्यक है ! और क्यों !

(घ) क्या किसी देशी राज्य का भारतीय संघ (और पाकिस्तान) से स्वतंत्र रहना उचित या व्यावहारिक है ।

(च) भारतीय संघ और पाकिस्तान इन दो राज्यों में से किसी एक में शामिल होने के लिए देशी राज्यों के लिए किन-किन बातों का विचार करना आवश्यक था।

[६] विविध—

(क) 'क्या कशमीर इसलिए हिन्दू राज्य है कि हिन्दू राजा उस प्रदेश पर शासन करता है, जिसकी जनता अधिकांश में मुसलमान है? अथवा, क्या हैदराबाद, वहाँ हिन्दू जनता की प्रधानता होते हुए, इसलिए मुसलिम राज्य है कि एक मुसलमान उन लोगों के भाग्य पर शासन करता है!' इस पर अपने विचार प्रगट करो।

(ख) 'हैदराबाद में स्टेट कांग्रेस उस अर्थ में साम्प्रदायिक कदापि नहीं है, जिसमें इस शब्द का प्रयोग भारतवर्ष में किया जाता है।' म० गांधी के इस कथन को समझाओ।

(ग) सुराज्य और स्वराज्य में क्या अन्तर है?

(घ) रियासतों में शासन-सुधार कराने या उत्तरदाई शासनपद्धति स्थापित कराने का आन्दोलन करनेवाले राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को किन-किन बातों की ओर खास ध्यान देना चाहिए?

(च) जनता में नागरिक भावनाओं का प्रचार करने के लिए किन-किन उपायों को काम में लाना आवश्यक है।

———

देशी राज्यों के सम्बन्ध में

हमारी नई पुस्तक

देशी राज्यों की जन-जागृति

इस पुस्तक में

अंगरेजी राज में राजाओं ने जनता के हितों की कैसी उपेक्षा की, और जनता का असंतोष बढ़ने पर कुछ महानुभावों ने किस प्रकार तरह-तरह की मुसीबतों को झेलते हुए जनता-जनार्दन की सेवा की, और उसे सोते से जगाया ! उनके कार्य में कैसे-कैसे विघ्न आये, किस प्रकार उन्हें जेल-यातना, और लाठियों की वर्षा सहनी पड़ी तथा गोलियों का शिकार होना पड़ा, परन्तु उसके बाद भी आजादी और जागरण का झंडा उठाने के लिए दूसरे युवक और महिलाएँ आगे बढ़ीं ! एक-एक राज्य में क्या-क्या काम हुआ और किस तरह विविध राज्यों की एक केन्द्रीय संस्था कायम हुई; उसने किस प्रकार संगठित आन्दोलन किया, खासकर पिछले पैंतीस-चालीस वर्ष के जागरण का क्या फल है !

इन बातों का सिलसिलेवार वर्णन पढ़िए, विचार कीजिए और अपना आगे का कर्तव्य निर्धारित कीजिए।

कुछ अध्याय ये हैं :—

१—अंगरेजी राज में राजाओं का स्वेच्छाचार

२—रियासती जनता का असन्तोष

३—क्रान्तिकारी आन्दोलन

४—जागृति का श्रीगणेश

५—बिजौलिया सत्याग्रह

६—राजपूताना मध्यभारत सभा

देशी राज्य शासन

७—राजस्थान सेवा संघ

[बेगूं का किसान-आन्दोलन, मेवाड़ के जाटों का आन्दोलन, सिरोही हत्याकांड, बून्दी में स्त्रियों पर फौजी सिपाहियों का हमला, बून्दी में गोलीकांड]

८—अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद

९—प्रादेशिक समितियाँ

१०—कांग्रेस और देशी राज्य

११—विविध विचार-धाराएँ

१२—जन जागृति और साहित्य

१३—कशमीर

१४—पंजाब के राज्य

१५—शिमला पहाड़ी राज्य

१६—काठियावाड़ और गुजरात के राज्य

१७—राजपूताने के राज्य

[जोधपुर, मेवाड़, जयपुर, बीकानेर, अलवर, जैसलमेर, भरतपुर, कोटा, डूंगरपुर]

१८—मध्यभारत के राज्य

[गवालियर, इन्दौर, भोपाल, रीवा, रतलाम, ओरछा, झाबुआ]

१९—उड़ीसा के राज्य

२०—हैदराबाद

२१—मैसूर

पुस्तक छप रही है। नवम्बर (१९४७) में प्रकाशित होगी।

मूल्य, लगभग ५) रु०

भगवानदास केला

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज (इलाहाबाद)

भारतीय ग्रन्थमाला

भारतीय शासन (नवाँ संस्करण)	...	१॥)
भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा संस्करण)	...	॥=)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (सातवाँ संस्करण)	...	१)
हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा संस्करण)		२)
भारतीय सहकारिता आदोलन (दूसरा संस्करण)	...	२।।।)
भारतीय जागृति (चौथा संस्करण)	...	२)
निर्वाचन पद्धति (चौथा संस्करण)	...	।।।)
नागरिक कहानियाँ	...	॥=)
राजनीति शब्दावली (तीसरा संस्करण)	...	२॥)
नागरिक शिक्षा (पाँचवाँ संस्करण)	...	१।)
ब्रिटिश साम्राज्य शासन (चौथा संस्करण)	...	१।)
श्रद्धाञ्जली	...	।।।=)
अर्थशास्त्र शब्दावली (तीसरा संस्करण)	...	१।।।)
कौटल्य के आर्थिक विचार (तीसरा संस्करण)	...	२)
अपराध चिकित्सा	...	१॥)
पूर्व की राष्ट्रीय जागृति	...	१॥)
भारतीय अर्थशास्त्र (चौथा संस्करण)	...	४)
साम्राज्य और उनका पतन (दूसरा संस्करण)	...	२॥)
मातृवन्दना (चौथा संस्करण)	...	॥)
देशी राज्य शासन (दूसरा संस्करण)	...	३॥)
विश्व-सङ्घ की ओर	...	२॥)
भावी नागरिकों से	...	१।)
इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति	...	१)
मनुष्य जाति की प्रगति	...	३॥)
गाँव की बात (दूसरा संस्करण)	...	॥)
नागरिक शास्त्र (दूसरा संस्करण)	...	२।)

भगवानदास केला, भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, प्रयाग